सूची।

— ० —

वि० पू०=विक्रमपूर्व संवत्।   वि०=विक्रमसंवत्।

तृतीय अध्याय [४७—५८]

द्वितीय भाग अर्थात् मध्य समय का दर्शन ।

प्रथम अध्याय [६१—६९]

द्वितीय अध्याय [७०—७७]

तृतीय भाग अर्थात् आधुनिक समय क दर्शन ।

अष्टम अध्याय [१६८-१८१]

नवम अध्याय [१८२—१८९]

दशम अध्याय [१९०—१९१]

प्रस्ताव।

यूरोपीय दर्शन की उत्पत्ति ग्रीस से मानी जाती है। यद्यपि गणित दर्शन आदि के तत्त्व ग्रीस देश में पहिले पहल ईजिप्ट से आए थे और सिकन्दर आदि के समय में ग्रीस का भारत से भी सम्बन्ध हुआ था, तथापि यहां के दार्शनिकों ने अपनी ही स्वतन्त्र बुद्धि से नवीन तर्कों के द्वारा अपना दर्शन बढ़ाया। इसलिये इनके दर्शन को स्वतन्त्र ही समझना चाहिए।

जब मनुष्य संसार के दृश्यों को देखते देखते उनके कारणों को तर्क के द्वारा निश्चय करने का प्रयत्न करने लगते हैं तब दर्शन का आरम्भ होता है। प्रायः पुराण के समय के अनन्तर सब ही देशों में दर्शन का अविर्भाव होता है। पहिले अपने ही सदृश शरीर इन्द्रिय गुण दोष आदि से युक्त देव भूत प्रेत आदि से मनुष्य संसार की स्थिति मानते हैं। ऐसी अवस्था में पौराणिक कथाओं से संतोष हो जाता है। अनन्तर इन कथाओं से असंतुष्ट होकर तर्क की सहायता से कथाओं के प्राकृत अर्थ निकाल कर युक्ति से जब मनुष्य संसार की उत्पत्ति स्थिति आदि की कल्पना करने लगते हैं तब दर्शन की अवस्था आती है।

पहिले पहल यूरोप के दार्शनिकों को जो ग्रीस में हुए जड़ चेतन का भेद ज्ञात नहीं था और न इस भेद की शङ्का ही उठी थी। चेतना शक्ति इनको सभी वस्तु में मिली हुई जान पड़ती थी। बहुत दिनों तक यही दर्शन का मुख्य

प्रश्न था कि वह कौन सा प्रथम द्रव्य था जिससे यह संसार हुआ। अन्न से मनुष्य आदि जन्तु, मिट्टी से अन्न, जल से बैठते बैठते मिट्टी, और गरम से पसीना आदि जल होता है। ऐसी ऐसी बातों को देख कर प्राचीन दार्शनिकों में से किसी ने जल को, किसी ने आग को, किसी ने वायु को और किसी ने एक अव्यक्त द्रव्य को संसार का प्रथम उपादान माना था। उस जल आग आदि से स्वयं संसार हुआ, क्योंकि उसमें जीव शक्ति मिली ही हुई थी। इसलिये आत्मा ईश्वर आदि का प्रश्न ही नहीं उठा और किसने पहिले जल आदि से सृष्टि बनाई यह शङ्का भी न हुई।

इस अन्वेषण के बाद यह शङ्का हुई कि संसार जैसा बराबर बदलता हुआ देख पड़ता है वैसा है, या एकरूप है और इन्द्रियों से सम्बन्ध होने से इसमें परिवर्तन होता हुआ जान पड़ता है। एक पक्षवाले दार्शनिक संसार को केवल भावस्वरूप मानते थे। और दूसरे पक्षवाले इसमें प्रति क्षण *परिवर्तन मानते थे। अन्ततः इन बातों से असंतुष्ट होकर कितने दार्शनिकों ने चार पांच तत्त्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) माने क्योंकि एक पदार्थ से सब पदार्थों का बनना उन्हें असंभव जान पड़ा। दूसरे दार्शनिकों ने परमाणुओं से संसार का निर्माण माना। इधर मूर्त वस्तुओं के निर्माण के लिये जब इन मतों का प्रचार हो रहा था उसी समय कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को अमर और एक शरीर

---

* परिवर्तन माननेवालो ने नियतिकृत सब परिवर्तन माना है। इसलिये नियति का ज्ञान मनुष्यों में इन लोगों ने जमाया जो कि अभी तक मनुष्यो के चित्त में बैठा है।

से दूसरे शरीर को ग्रहण करनेवाली माना जिससे आत्मा और शरीर का भेद धीरे धीरे स्पष्ट होने लगा।

इस अवस्था में एक दार्शनिक ने तत्वों को चार या पांच मानना असंगत समझ कर प्रत्येक विशेष पदार्थ के लिये एक एक पृथक् तत्व माना और स्वयं इन तत्वों में संयोग वियोग आदि की नियामिका शक्ति न देख कर आत्मा (Nous) को नियामक माना।

इस प्रकार की सृष्टि आदि के विषय में कल्पनाओं की फूट व्यर्थ समझ कर, 'मनुष्य का ज्ञान वस्तुतः ठीक है या भ्रम है, मनुष्य का कर्तव्य क्या होना चाहिए, मनुष्य का ज्ञान किन विषयों तक पहुंच सकता है' इत्यादि विचारों को तार्किक लोगों ने आरम्भ किया और यह ठहराया कि वास्तव तत्व क्या है इसका मनुष्य पता नहीं लगा सकता। जिस मनुष्य को जो वस्तु जैसी मालूम पड़े वैसी ही ठीक है। सृष्टि आदि विषयों के विचार में व्यर्थ तर्क छोड़ कर शान्ति और सुख से जीवन बिताना ही मनुष्य के जन्म का उद्देश्य है।

इस रीति से आत्मा और अनात्मा का भेद जब कुछ कुछ जान पड़ने लगा और अपने ज्ञान की स्वयं थोड़ी बहुत परीक्षा मनुष्य करने लगे तब कई बड़े बड़े विचारक उत्पन्न हुए जिनके स्वतन्त्र मत ग्रीस में और देशान्तरों में प्रचलित हुए। तार्किकों का खण्डन कर सब मनुष्यों में सामान्य जो वस्तु का ज्ञान है वही पारमार्थिक ज्ञान है और पारमार्थिक ज्ञानवाले मनुष्य कभी अनर्थ नहीं कर सकते इत्यादि आवश्यक विषयों का प्रतिपादन एथेन्स के उपदेशक साक्रटीज़ ने किया और

आचारशास्त्र का वैज्ञानिक रीति से उपक्रम किया। उसके बाद चार मुख्य मत ग्रीस में हुए-(१) प्लेटो का मत, (२) अरिस्टाटल का मत (३) स्टोइक मत (४) एपीक्यूरस् का मत। पाँचवां मत संशयवादियों का है जिसके माननेवाले कभी एक कभी दूसरे मत के अवलम्बी होकर संशयवाद का प्रचार करते थे।

प्लेटो ने संद्विवाद चलाया जिसके अनुसार वाह्य पदार्थ असत् है। शुद्ध ज्ञानरूप सत्ता है। प्लेटो के अनुसारी संशयवाद में कुछ समय तक रह कर ग्रीस के दर्शन के अन्तिम समयों में समाधिवाद (Doctrine of Ecstasy) के अवलम्बी हुए और योग से मनुष्य संसार से मुक्त होकर ईश्वरमय हो जा सकता है यह विश्वास रखते थे। इस मत के साथ ही साथ चिर काल तक और भी ऊपर कहे हुए मत चलते रहे जिनका विवरण मूल ग्रन्थ में विशेषतः होगा।

ग्रीस में देश की अवनति के कारण शास्त्र का लोप होने पर रोम अलेकज़ेंड्रिया आदि नगरों के ग्रीस रोम अरब आदि के विद्वानों ने प्राचीन दर्शन का प्रचार सुरक्षित रक्खा।

जब ख्रीष्ट मत का प्रचार बढ़ने लगा उस समय प्रायः इस संप्रदाय के प्रचारकों में अन्य मतों के खण्डन और अपने मत के स्थापन के लिये दार्शनिक तर्कों की आवश्यकता पड़ी। ये धार्मिक दार्शनिक आगस्टिन, ऐन्सेल्म टामस् आदि प्रायः अरिस्टाटल की बातों पर अधिक श्रद्धा रखते थे। कितने प्लेटो का अनुसरण करते थे क्योंकि साक्रटीज़ प्लेटो और अरिस्टाटल के दर्शन की बहुत सी बातें ख्रीष्ट मत से मिलती जुलती हैं। इन धर्मवादियों का मुख्य उद्देश्य संशय-

वाद का खण्डन और संसार के नियामक सगुण ईश्वर का स्थापन कर भक्ति मार्ग का प्रचार करना था। मध्य समय मे ग्रीस के मूल ग्रन्थ लुप्त हो गए थे। टीकाओं से ही उन के विषय विदित हो सकते थे।

पुनः जब इटली प्रदेश में विद्या का उज्जीवन (Renaissance) हुआ और वहीं से देशान्तरों में भी विद्या का प्रचार होने लगा तब ग्रीस के प्राचीन ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हुए। कुछ दिन तक तो अरिस्टाटल आदि प्राचीन दार्शनिकों ही के अनुगामी लोग हुए। पर विज्ञान में कोपर्निकस् गेलीलियो आदि के भूभ्रमण, भूकेन्द्रक ज्योतिर्गणित आदि विषयो के आविर्भाव होने से और बेकन आदि तार्किकों की नई परीक्षा-प्रधान वैज्ञानिक रीतियों के प्रचार होने से प्राचीन दर्शनों मे श्रद्धा कम होती गई और डेकार्ट, लीब्निज़ आदि स्वतन्त्र दार्शनिक निकले। क्रम से मनोविज्ञान (Psychology) के ऊपर अधिक श्रद्धा होने लगी। अनुभव और परीक्षा (Observation and Experiment) मुख्य उपाय ज्ञान और विज्ञान दोनो की उन्नति के लिये आवश्यक समझे गए।

इङ्गलैण्ड मे ह्यूम, और फ्रांस मे कौण्डियैक ने प्राचीन कल्पनाओं को सर्वथा निर्मूल प्रतिपादन कर मनुष्य के ज्ञान को सर्वथा अनुभवाधीन और जगत् के मनुष्यज्ञानाधीन होने के कारण संपूर्ण जगत् ही को अनुभवाधीन प्रतिपादन किया। इन लोगो का मत अनुभववाद (Empiricism) कहा जाता है।

अनन्तर गत शताब्दी मे जर्मनी प्रदेश मे काण्ट नामक महादार्शनिक हुआ जिसने प्राचीन कल्पनाओं के उपदेशवाद

आचारशास्त्र का वैज्ञानिक रीति से उपक्रम किया। उसके बाद चार मुख्य मत ग्रीस में हुए-(१) प्लेटो का मत, (२) अरिस्टाटल का मत (३) स्टोइक मत (४) एपीक्यूरस् का मत। पाचवा मत संशयवादियो का है जिसके माननेवाले कभी एक कभी दूसरे मत के अवलम्बी होकर संशयवाद का प्रचार करते थे।

प्लेटो ने संद्विवाद चलाया जिसके अनुसार बाह्य पदार्थ असत् है। शुद्ध ज्ञानरूप सत्ता है। प्लेटो के अनुसारी संशयवाद में कुछ समय तक रह कर ग्रीस के दर्शन के अन्तिम समयो मे समाधिवाद (Doctrine of Ecstasy) के अवलम्बी हुए और योग से मनुष्य संसार से मुक्त होकर ईश्वरमय हो जा सकता है यह विश्वास रखते थे। इस मत के साथ ही साथ चिर काल तक और भी ऊपर कहे हुए मत चलते रहे जिनका विवरण मूल ग्रन्थ में विशेषतः होगा।

ग्रीस में देश की अवनति के कारण शास्त्र का लोप होने पर रोम अलेकज़ेंड्रिया आदि नगरों मे ग्रीस रोम अरब आदि के विद्वानों ने प्राचीन दर्शन का प्रचार सुरक्षित रक्खा।

जब खीष्ट मत का प्रचार बढ़ने लगा उस समय प्रायः इस संप्रदाय के प्रचारकों में अन्य मतों के खण्डन और अपने मत के स्थापन के लिये दार्शनिक तर्कों की आवश्यकता पड़ी। ये धार्मिक दार्शनिक आगस्टिन, ऐन्सेल्म टामस् आदि प्रायः अरिस्टाटल की बातों पर अधिक श्रद्धा रखते थे। कितने प्लेटो का अनुसरण करते थे क्योंकि साक्रटीज़ प्लेटो और अरिस्टाटल के दर्शन की बहुत सी बातें खीष्ट मत से मिलती जुलती हैं। इन धर्मवादियों का मुख्य उद्देश्य संशय-

वाद का खण्डन और संसार के नियामक सगुण ईश्वर का स्थापन कर भक्ति मार्ग का प्रचार करना था। मध्य समय मे ग्रीस के मूल ग्रन्थ लुप्त हो गए थे। टीकाओं से ही उन के विषय विदित हो सकते थे।

पुनः जब इटली प्रदेश में विद्या का उज्जीवन (Renaissance) हुआ और वहीं से देशान्तरों में भी विद्या का प्रचार होने लगा तब ग्रीस के प्राचीन ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हुए। कुछ दिन तक तो अरिस्टाटल आदि प्राचीन दार्शनिकों ही के अनुगामी लोग हुए। पर विज्ञान में कोपर्निकस् गेलीलियो आदि के भूभ्रमण, भूकेन्द्रक ज्योतिर्गणित आदि विषयों के आविर्भाव होने से और बेकन आदि तार्किकों की नई परीक्षा-प्रधान वैज्ञानिक रीतियों के प्रचार होने से प्राचीन दर्शनों में श्रद्धा कम होती गई और डेकार्ट, लीब्निज़ आदि स्वतन्त्र दार्शनिक निकले। क्रम से मनोविज्ञान (Psychology) के ऊपर अधिक श्रद्धा होने लगी। अनुभव और परीक्षा (Observation and Experiment) मुख्य उपाय ज्ञान और विज्ञान दोनों की उन्नति के लिये आवश्यक समझे गए।

इङ्गलैण्ड में ह्यूम, और फ्रांस में कौण्डियैक ने प्राचीन कल्पनाओं को सर्वथा निर्मूल प्रतिपादन कर मनुष्य के ज्ञान को सर्वथा अनुभवाधीन और जगत् के मनुष्यज्ञानाधीन होने के कारण संपूर्ण जगत् ही को अनुभवाधीन प्रतिपादन किया। इन लोगों का मत अनुभववाद (Empiricism) कहा जाता है।

अन्ततः गत शताब्दी में जर्मनी प्रदेश में काण्ट नामक महादार्शनिक हुआ जिसने प्राचीन कल्पनाओं के उपदेशवाद

(Dogmatism) और ह्यूम आदि के अनुभववाद (Empiricism) दोनों को अकाण्डताण्डव बतलाया और यह दिखलाया कि पहिले मन की शक्तियों की परीक्षा करके तब मनुष्य को दार्शनिक ज्ञान का प्रयत्न करना चाहिए। इसलिये काण्ट के मत को परीक्षावाद (Criticism) कहते हैं।

काण्ट के बाद यूरोप में तीन प्रकार के दार्शनिक हुए (१) संविद्वादी—फिक्, हेगेल आदि, (२) वस्तुवादी-रीड के अनुगामी, (३) नए अनुभववादी-मिल, बेन आदि।

दर्शन की शाखाओं का वृत्तान्त।

ऐतिहासिक क्रम से दर्शन की इतनी शाखाएं हैं।

१ साक्रटीज़ के पहिले का दर्शन।
२ साक्रटीज़ प्लेटो और अरिस्टाटल के दर्शन।
३ ग्रीस के अन्तिम दर्शन।
४ ख्रीष्टानुगामियों के दर्शन।
५ स्कूल का दर्शन।
६ नए दर्शन का आरम्भ।
७ काण्ट का परीक्षावाद।
८ अनुभववाद।
९ काण्ट के बाद का दर्शन।

विषय के भेद से दर्शन के इतने भेद हैं।

१ सामान्य दर्शन (Metaphysics)
२ ज्ञान परीक्षा (Epistemology)
३ सत्ताशास्त्र (Ontology)
४ दर्शन के सहकारी शास्त्र—मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र, रसशास्त्र, इत्यादि।

सत्ताशस्त्र के अवान्तर भेद–

१ अद्वैतवाद २ द्वैतवाद ३ बहुत्ववाद	अथवा	१ बाह्यवस्तुवाद। २ आत्मवाद । ३ क्षणिकदृश्यवाद।

ज्ञानशास्त्र के अवान्तर भेद–

१ बुद्धिवाद २ प्रत्यक्षवाद	अथवा	१ उपदेशवाद । २ संशयवाद । ३ परीक्षावाद।

इन भेदों के अतिरिक्त और भी कितने प्रकार से दर्शन के भेद निकाले गए हैं जो दर्शन के इतिहास के ज्ञान से स्वयं स्पष्ट होंगे ।

प्रथम भाग

अर्थात्

प्राचीन दर्शन ।

प्रथम अध्याय ।
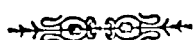
थेलीज़, एनैक्सिमैंडर, एनैक्सिमेनीज़ । ग्रीस के पूरब उसी देश की अयोनिया (यवन) नाम की बस्ती में आज से ढ़ाई हज़ार बरस पहिले ये तीन दार्शनिक हुए । इनके अनुयायी और भी बहुत से दार्शनिक हुए जिनमें हिप्पो इनसे सौ बरस पीछे और डायोजेनीज़ दो सौ बरस पीछे हुआ । इन दार्शनिकों का यही अन्वेषण था कि संसार किस मूलद्रव्य (Arche) से उत्पन्न हुआ है । क्योंकि जीवशक्ति सभी द्रव्य में ये लोग मिश्रित समझते थे । इसलिये आत्मा ईश्वर आदि के विषय में इन्हे कोई शङ्का नहीं उत्पन्न हुई और न निर्जीव से भिन्न जीव कोई वस्तु इनके यहां थी । थेलीज़ के मत से जल, एनैक्सिमैंडर के मत से एक अनियत द्रव्य (Apeiron) और एनैक्सिमेनीज़ के मत से वायु वह मूलद्रव्य है जिससे आपही आप संपूर्ण संसार हुआ है ।

थेलीज़ इन दार्शनिकों में सब से प्राचीन था । यह एक बड़ा ज्योतिषी भी था । खीष्ट वर्षारम्भ से ५८५ बरस पहिले जो सूर्यग्रहण हुआ था उसे इसने पहिले ही से बता रक्खा था । ग्रीस में सात बुद्धिमान् प्रसिद्ध थे जिनमें से एक यह भी था । इसके मत से पानी से सब वस्तु निकली है । किस प्रकार पानी से सब वस्तु बनी है यह थेलीज़ ने नहीं बताया है ।

थेलीज़ का सहवासी एनैक्सिमैंडर था । यह ज्योतिष और भूगोलविद्या में निपुण था । इसने अपने गद्य के ग्रन्थ

मे यह सिद्ध किया है कि सबमे पहिले एक अपरिच्छन्न परिमाण का द्रव्य था जिससे ससार निकला है और उसीमें ससार का प्रलय भी होता है । यह द्रव्य सब विशेषो से रहित था। एनेक्सिमेंडर को यह भ्रम था कि यह द्रव्य परिमाण में अपरिच्छन्न अर्थात् वेठिकाने होना चाहिए, नहीं तो सृष्टि होते होते यह समाप्त हो जाता। यह अपरिच्छन्न प्रथम द्रव्य किसी से नहीं निकला है, यह अनश्वर है और इसकी गति भी शाश्वत है। इसकी गति से सब विशेष उत्पन्न हुए है। पहिले शीत उष्ण का भेद निकला और इसी क्रम से पृथ्वी वायु अग्नि आदि की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पहिले द्रव अवस्था में थी। उसकी अवस्था क्रम से परिवर्तित हुई है। सूख जाने पर जीव प्रकट हुए हैं।

एनैक्सिमेनीज़ एनैक्सिमैंडर का शिष्य था। इसके ग्रन्थ का एक खण्ड अभी तक रक्षित है। वायु इसके मत से प्रथम द्रव्य है। वायु में घनीभाव और शैथिल्य दो गुण हैं। घनीभाव शीतलता से और शैथिल्य उष्णता से होता है। वायु के शैत्य से पृथ्वी और उष्णता से अग्नि तारा आदि हुए हैं।

हिप्पो इडीयस, डीयोजेनीज़। इन दार्शनिकों के बाद दो सौ बरस तक इनके अनुयायी हुए जिनमे से मुख्य हिप्पो, इडीयस् और डीयोजेनीज़ थे। हिप्पो थेलीज़ का अनुगामी था और जल को मूलतत्त्व मानता था। आर्द्रता से अग्नि और अग्नि और जल के संघर्ष से संसार हुआ। इडीयस् एनैक्सिमेनीज़ का अनुसारी होकर वायु को मूलतत्त्व मानता था। एपोलेनिया निवासी डीयोजेनीज़ भी वायु ही को मूलतत्त्व

मानता था। एनैक्सागोरस नाम का दार्शनिक अनेक तत्त्व मानता था और इन तत्त्वों को मिलाकर अपनी रुचि से संसार बनाने वाली आत्मा भी मानता था। आगे इस दार्शनिक का मत विशेष रूप से लिखा जायगा। इसके प्रतिकूल डीयोजेनीज़ ने एनैक्सिमेनीज़ का मत पुनः स्थापन करना चाहा। अनेक भिन्न तत्त्वों का परस्पर मिलना असंभव है और वायु ही से द्रव्यों में मादकता शक्ति सड़जाने पर आती है। वायु ही जीवों में प्राणरूप से कार्य आदि की शक्ति देती है। ऐसे हेतुओं से डीयोजेनीज़ ने वायु का मूलतत्त्व होना स्थापित किया।

पीथागोरस और उसके अनुयायी। एनैक्सीमेनीज़ के समय में सेमस् द्वीप में निसार्कस् का पुत्र पीथागोरस हुआ। जन्मभूमि से अनेक स्थानों में घूमते घूमते इटली के क्रोटोना नाम के स्थान में इसने निवास किया। पीथागोरस ने स्वयं कौन सा मत चलाया था यह ज्ञात नहीं है। इसके अनुयायी फीलोलाउस आदि की उक्तियों से इसका मत जाना जाता है। संख्या के अनुसार सब वस्तु संसार में बनी है और संख्या ही वस्तुओं का सार है। कोई संख्या सम है, कोई विषम है। सम संख्या के दो विभाग हो सकते हैं विषम के नहीं। इसलिये सम का रूप अनियत है और विषम का नियत। ग्रीस के लोग नियत रूप की वस्तुओं को अनियत रूप की वस्तुओं की अपेक्षा पूर्ण मानते थे और सम संख्या की अपेक्षा विषम संखया उत्तम मानी गई। इस प्रकार पीथागोरस के अनुयायियों के अनुसार सम विषम, नियत अनियत, एक बहुत, दक्षिण वाम, स्त्री पुरुष, गति स्थिरता, सीधा टेढ़ा, प्रकाश अन्धकार, अच्छा बुरा, लम्बा

चौपहल—इन दस भेदो मे संपूर्ण संसार व्याप्त है । इन भेदो का मेल स्वरसंयोग (Harmony) के अनुसार होता है । पीथागोरस के अनुयायियो के मत से आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जा सकती है और दस हजार बरस के बाद सम्पूर्ण संसार फिर जैसा पहिले हुआ था वैसा ही होता है । जीव जो कार्य यहां करते है उनका फल उन्हे भविष्यत् मे मिलता है ।

जेनोफेनीज़, पार्मेनिडीज़, ज़ीनो, मेलिसस् ।

पीथागोरस के समय में यवन देश (Ionia) से आकर जेनोफेनीज़ ने इटली में वास किया । इसको लोग एनैक्सिमेंडर का शिष्य कहते है । ग्रीस देश में मनुष्यो के सदृश आकार और आचार देवताओं के समझे जाते थे । ऐसे देव बहुत से थे । इनमें व्यभिचार आदि का भी प्रचार माना जाता था। जेनोफेनीज़ को इन वर्णनो से बड़ी घृणा हुई । उसने यह दिखाया कि जो आचार मनुष्यों मे भी अनुचित समझा जाता है देवताओं में उस व्यभिचार चोरी आदि का आचार होना अत्यन्त अनुचित है । फिर सर्वोत्तम तो कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, न कि अनेक। इसलिये देवता या ईश्वर वस्तुतः एक ही है, इसका आदि अन्त नहीं है । सब संसार इसीका स्वरूप है ।

जेनोफेनीज़ का शिष्य पार्मेनिडीज़ हुआ । इसके मत से केवल ईश्वर ही नहीं किंतु वस्तुमात्र एक है। सब संसार सत्स्वरूप है । असत् की स्थिति नहीं हो सकती । इसलिये अभावपदार्थ पार्मेनिडीज़ नहीं मानता था । सत् का आदि या अन्त नहीं है क्योंकि असत् से सत् होना या सत् से असत्

हो जाना दोनों ही अचिन्त्य हैं। सत् एक और अविभक्त है क्योंकि इसका विभाजक केवल असत् हो सकता है पर असत् तो है ही नहीं। सत् अपने ही से पूर्ण है। इसमें विकार और परिवर्तन नहीं हो सकता। ज्ञान असत का नहीं हो सकता किंतु सत् ही का, इसलिये ज्ञान सत्स्वरूप ही है। विवेक (Logos) से सत्तामात्र की स्थिति ज्ञात होती है और यही वास्तव ज्ञान है। इन्द्रियों से वस्तुएं अनेक और विकारी देख पड़ती हैं इसलिये इन्द्रियजन्य ज्ञान केवल भ्रम है। वस्तुतः सत् ही है पर मनुष्य अपने मन से असत् की भी स्थिति समझ लेता है, इस प्रकार सत् और असत् अर्थात् प्रकाश और तम दो पदार्थ हुए जिनसे सब जगत् बना है। इनमें प्रकाश का अंश अधिक होने से मनुष्य को ज्ञान होता है और तम की प्रबलता होने से अज्ञान होता है।

पार्मेनिडीज़ का मुख्य शिष्य ज़ीनो था जो यूरोप में तर्क शास्त्र (Dialectics) का प्रथम प्रचारक माना जाता है। अपने तर्कों से इसने मुख्यतः यह सिद्ध किया है कि वस्तुओं में गति और बहुत्व भ्रममूलक है। यदि वस्तु अनेक हैं तो संसार को अत्यन्त बड़ा और अत्यन्त छोटा होना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक भाग के फिर भी अनेक भाग हो सकते हैं और विभाग का ठिकाना नहीं है, तो संसार अनन्त भागों से बना हुआ अतएव अनन्त हुआ और अन्तिम भाग अत्यन्त सूक्ष्म होंगे, इसलिये संसार बहुत छोटा है क्योंकि ये सूक्ष्म भाग कितने ही मिलें इनका परिमाण सूक्ष्म ही रहेगा। फिर यदि अनेक वस्तु हैं तो संख्या में वे नियत और अनियत दोनो ही होती हैं। वे संख्या में नियत हैं क्योंकि जितनी

वस्तुए संसार में है उनसे अधिक तो कहीं है ही नहीं, पर अनियत भी इनकी सख्या है क्योकि दो वस्तुओ को पृथक् करने के लिये एक तृतीय वस्तु की बीच में आवश्यकता है और इस तृतीय वस्तु को और दो वस्तुओ से पृथक करने के लिये एक चतुर्थ वस्तु की अपेक्षा है। तो इन वस्तुओ की सख्या का अन्त कैसे हो सकता है, यो ही सब वस्तुए आकाश मे है तो आकाश के लिये भी दूसरे अवकाश की अपेक्षा है और इस अवकाश के रहने के लिये फिर किसी आधार की आवश्यकता होगी और कहीं विश्राम नहीं होगा। इस प्रकार के परस्पर व्याघात, अनवस्था, आदि दोषो को देख कर वस्तुमात्र एक है अनेक नहीं ऐसाही कहना उचित है। अब यदि यह विचारा जाय कि वस्तुओं मे गति का संभव है कि नहीं तो गति मानने मे येविवरोध पड़ते है-(१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में जानेवाला बाण आदि पिहले जितना जाता है उसका आधा अंश चलेगा फिर इस आधे को समाप्त करने के लिये उसका भी आधा चलेगा ऐसे ही कहीं अन्त नहीं लगेगा और न लाखों बरस में भी जितना जाना है उतना समाप्त होगा। (२) कछुवे के पीछे यदि खरहा चले तो खरहा चाहे कितना ही शीघ्रगामी हो कछुवे को पकड़ नहीं सकता क्योंकि खरहा जब तक उस स्थान पर पहुंचेगा जहां से कछुवा पहिले चला तब तक कछुवा कुछ थोड़ा आगे अवश्य बढ़जायगा। (३) चलता हुआ बाण प्रतिक्षण किसी न किसी स्थान पर स्थिर है इसलिये यदि पृथक् पृथक् सब स्थानों में स्थिर रहा तो चाहे कितना भी समय क्यों न बीते बाण का चलना असंभव है। (४) प्रत्येक वस्तु की गति

स्थिर मनुष्य को जैसी विदित होती है उससे अधिक शीघ्र उस वस्तु की ओर दौड़ते हुए मनुष्य को विदित होती है। ऐसे विरोधों के परिहार के लिये वस्तु को एक और गति-रहित अर्थात् निर्विकार मानना उचित है। ज़ीनो ने इन हेतुओं को पार्मेनिडीज़ के एक-सत्ता-वाद के समर्थन में लगाया, पर पीछे संशयवादियों ने अपना मत इन्हीं हेतुओं से प्रसिद्ध किया। ज़ीनो के समय ही में गोर्जियस् ने यह दिखाया कि केवल देश काल गति आदि का भेद ही असंभव और विरोध से ग्रस्त है ऐसा नहीं किंतु सत्ता भी कोई वस्तु नहीं है और असद्वाद ही ठीक है क्योंकि यदि सत्ता है तो जैसा पार्मेनिडीज़ ने दिखाया है उसी रीति से सत्ता को अनादि अनन्त अर्थात् शाश्वत होना चाहिए। पर जो वस्तु अनन्त है अर्थात् जिसका देश और काल में कहीं विश्राम नहीं है वह देश और काल में नहीं अट सकती और जो वस्तु देश काल में नहीं है वह कहीं नहीं है या हो भी तो हम लोग तो केवल देश और काल में जो वस्तु है उसी को जान सकते हैं इसलिये देश कालातीत वस्तु कुछ है या नहीं इसका ज्ञान ही हमें कैसे हो सकता है।

ज़ीनो के प्रायः साथ ही साथ मेलिसस् हुआ था। यह वीर और नीतिज्ञ था। पार्मेनिडीज़ के मत से संसार सत्स्वरूप है इसका काल में आदि और अन्त नहीं है पर मेलिसस् के मत से देश मे भी संसार अपरिच्छिन्न है केवल काल ही मे नहीं। और सब बातों में प्रायः यह पार्मेनिडीज़ का अनुगामी था।

हेरैक्लीटस्, एम्पेडोक्लीज़, डीमोक्रीटस्, एनैक्सागोरस्, प्रोटेगोरस् । पार्मेनिडीज के समय के आस पास पांच बड़े दार्शनिक हुए। उनमें से चार याने हेरैक्लीटस्, एम्पेडोक्लीज़, डीमोक्रीटस् और एनैक्सागोरस् तो वैज्ञानिक थे और पाचवां अर्थात् प्रोटेगोरस् संशयवादी था । इन पांचों में पार्मेनिडीज़ को मिला दिया जाय तो छ हुए । ये छ यूरोप के दर्शन के मूलकार हैं । जैसे भारत में दर्शन के छ सूत्रकार हुए थे और उन्हींका अनुसरण कर पीछे दार्शनिको ने अनेक मतों का प्रचार किया वैसे ही पार्मेनिडीज़ आदि छ दार्शनिकों का अवलम्बन कर समस्त यूरोप का दर्शन बढ़ा ।

हेरैक्लीटस् एक उत्तम वंश का विद्वान था । इसके लेख संक्षिप्त और कठिन होते थे । इसके मत से प्रकृति एक है पर सदा परिणामिनी है । प्रति क्षण वस्तुओं में परिणाम होता रहता है इसलिये संसार का मूल कोई ऐसा द्रव्य होना चाहिए जिसमें प्रति क्षण प्ररिणाम हो । हेरैक्लीटस् को ऐसा प्रति क्षण परिणामी द्रव्य अग्नि विदित हुआ । इससे इस ने अग्नि को जगत् का मूल माना है । यही अग्नि जीवों में प्राणरूप है । दैववश परस्पर विरुद्ध वस्तुएं संसार में उत्पन्न होती रहती हैं । जैनों के सदृश हेरैक्लीटस् समझता है कि प्रति दिन नया सूर्य निकलता है क्योंकि सूर्य की नौका मे जो आग है वह संध्या को समुद्र के जल में बुझ जाती है और फिर रात्रि को जल के वाष्पों से उत्पन्न हो कर प्रातः काल में निकलती है । ऐसे ही संसार भी अग्नि से निकलता है और कल्पान्त में जल कर अग्नि में प्रवेश करेगा । मनुष्यों को जगत् में बहुत सी वस्तुएं स्थिर विदित होती है पर यह

ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न भ्रम है । वस्तुतः विवेक दृष्टि से यही ज्ञात होता है कि दैव याने ईश्वर के नियम के अतिरिक्त और कुछ स्थिर नहीं है । मनुष्य को संतोषपूर्वक प्रकृति के अनिवार्य प्रवाह के साथ चलना उचित है क्योंकि छटपटाने से कुछ फल नहीं है । हेरैक्लीटस् को जनता का मत धर्म आदि के विषय में बहुत ही नापसंद था । यह मूर्तिपूजा और हिंसा पूर्वक यज्ञ की बड़ी निन्दा किया करता था ।

एम्पेडोक्लीज़ सुवक्ता और कार्य-शक्ति-शाली पुरुष था। यह वैद्य, भविष्यद्वादी, धर्मोपदेशक आदि का अनेक कार्य करता था । इसके मत से संसार का आदि और अन्त नहीं है सब जगत् चार तत्त्वों से उत्पन्न है । पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये तत्त्व गुणों से भिन्न हैं और प्रत्येक के विभाग हो सकते हैं । ये तत्त्व परस्पर ऐसे विभक्त हैं कि एक से दूसरा कभी नहीं हो सकता और दो या अधिक तत्त्व मिल कर द्रव्यान्तर भी नहीं बन सकते, केवल अनेक तत्त्वों के सूक्ष्म अंश मिल जाने से एक विलक्षण द्रव्य हो गया ऐसा जान पड़ता है । वस्तुतः सब तत्त्वों के अंश पृथक् ही रहते हैं । तत्त्वों के संयोग और वियोग के लिये संसार में दो शक्तियां हैं । एक का नाम प्रेम और दूसरी शक्ति का नाम द्रोह है । पहिली शक्ति से तत्त्वों में आकर्षण होता है और दूसरी से तत्त्व एक दूसरे से हटते हैं । प्रेम के द्वारा धीरे धीरे तत्त्वों के एकत्र होने से नए नए रूप बने हैं और पृथ्वी पर पहिले कुरूप बड़े बड़े जन्तु थे । क्रम से उनके रूप अच्छे से अच्छे उत्पन्न हुए । इसीका नाम उत्क्रान्तिवाद (Evolution theory) है और डार्विन ने इसी वाद को वैज्ञानिक नियमों के अनुसार

सिद्धान्तित किया है । समान से समान का ग्रहण होता है यह एम्पेडोक्लीज़ का मत था । इसीलिये जिस इन्द्रिय में जिस तत्त्व का अंश अधिक है वह उसी तत्त्व को ग्रहण करती है, जैसे आंख मे आग्नेय तत्त्व अधिक है इससे आंख के द्वारा प्रभा का ग्रहण होता है । तत्त्वों के और इन्द्रियों के विषय मे एम्पेडोक्लीज़ की बातें प्रायः वैशेषिक सूत्रकार कणाद से मिलती है, इसलिये इसको लोग पश्चिम का कणाद कहते हैं। पीथागोरस् के सदृश जीव की अनेक जन्तुओ मे गति यह भी मानता था ।

प्रायः एम्पेडोक्लीज़ के साथ ही साथ ल्युकिपस् नाम का एक दार्शनिक हुआ था । इसका मत इसके विख्यात शिष्य डीमोक्रीटस् के लेखों से विदित होता है। ये दोनों गुरु और शिष्य परमाणुवादी थे। इनके मत से भाव और अभाव दो पदार्थ हैं । भाव वह है जिससे शून्य भरा हुआ है, अभाव वह है जो शून्यरूप है । भाव अनेक परमाणुओं से बना है। सब वस्तुओं का विभाग करते करते अन्त में हम लोग परमाणु तक पहुंचते हैं । परन्तु परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। सब परमाणु गुण में और गुरुत्व मे एकही प्रकार के है। केवल आकार में एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न होता है । परमाणुओं में परस्पर आकर्षण होने से संसार उत्पन्न होता है उन्हींके विभाग से वस्तुओं का नाश होता है। परमाणुओं में गुरुत्व होने के कारण अनादि काल से वे आकाश में नीचे गिरते जाते है । जो हलके हैं वे धीरे धीरे गिरते हैं और जो भारी हैं वे शीघ्र गिरते हैं। अग्नि के चिकने और गोल परमाणुओं से मनुष्य की आत्मा बनी हुई

है । यह आत्मा के परमाणु शरीर भर में व्याप्त है । सांस बाहर निकलने से आत्मा के अंश बाहर निकल जाते हैं । पर इस प्रकार जो कमी होती है उसकी पूर्ति सांस भीतर लेने से जो वायु मण्डल के आग्नेय परमाणु भीतर पहुंचते रहते हैं उनसे हो जाती है । इन्द्रियों से और वस्तुओं से कुछ परमाणु निकल कर बीच रास्ते में मिलते हैं इसीसे जन्तुओं को वस्तुज्ञान होता है । जिस आकार के परमाणु जिस इन्द्रिय में है उस इन्द्रिय से उसी आकार के परमाणुओं से बनी हुई वस्तुओं का ग्रहण होता है । आपही आप आनन्द से रहना मनुष्य के लिये परम सुख है और चिन्ता दुःख का मूल है । इसका क्या कारण है कि मनुष्य का सुख बाहरी विभव में नहीं किन्तु चित्त की शान्ति और उसके संतोष में है यह डीमोक्रीटस् ने नहीं दिखाया है । इस दार्शनिक के मत से वायुमण्डल में बड़े बड़े अत्यन्त प्रबल अदृश्य भूत हैं जो कभी कभी स्वप्न आदि में मनुष्यों को देख पड़ते हैं ।

ऊपर चार वैज्ञानिकों के नाम लिख आए हैं उनमें से तीन का मत दिखाया गया, चौथा एनैक्सागोरस् था जिसने अपना धन आदि गंवा कर विज्ञान में अपने को लगाकर गणित शास्त्र में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की । इस वैज्ञानिक ने एम्पेडोक्लीज़ और ल्यूकिपस् का यह मत स्वीकार किया है कि संसार का सर्वथा आरम्भ या अन्त अचिन्तनीय है, पर यद्यपि संसार की उत्पत्ति या उसके अन्त के लिये किसी और व्यक्ति की अपेक्षा नहीं है तथापि इस संसार की जो अपूर्वगति और ऐसी सुन्दर रचना (Design) है इसके लिये किसी सर्वज्ञ और

सर्वशक्तिमती मत् वस्तु की अवश्य अपेक्षा है। इस प्रकार जैसे भारत में ब्रह्मसूत्रकार ने 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' इत्यादि शास्त्रार्थ से सांख्य मत का खण्डन कर ईश्वर का स्थापन किया वैसे ही एनैक्सागोरस् ने पहिले पहल यूरप में ईश्वर का स्थापन किया। इसके पहिले किसी को प्रायः ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ी थी। एनैक्सागोरस ही के मत से संसार की रचना परमात्मा (Nous) से हुई। यह परमात्मा शुद्ध और सर्वशक्तिमान् है। सब वस्तुए पहिले संकीर्ण थीं, आत्मा ने अपनी विवेकशक्ति से इन वस्तुओं को अपने अपने स्थान में लगाकर इस संसार की रचना की है। एम्पेडोक्लीज़ का चतुर्भूतवाद और ल्युकिपस का परमाणुवाद दोनों ही एनैक्सागोरस् के मत से अशुद्ध हैं। वस्तुतः संसार में अनेक सोना, चांदी, हड्डी, मिट्टी आदि तत्त्व है। इन्हींके छोटे छोटे पुद्गलों (Spermata) से संसार बना हुआ है। ये पुद्गल बहुत छोटे हैं परंतु परमाणुओं के सदृश अविभाज्य नहीं हैं और प्रत्येक द्रव्य के पुद्गल अपने ही विशेष गुणों से युक्त है। एनैक्सागोरस का सृष्टिक्रम प्रायः ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में और मनुस्मृति के आरम्भ में जो सृष्टिक्रम दिया हुआ है उसीका सा है। इसके मत से सृष्टिके आरम्भ में सब वस्तु मिली हुई थी कोई विशेष नहीं विदित हो सकता था। आत्मशक्ति (Nous) ने किसी एक केन्द्र मे चक्राकार गति उत्पन्न की। उसी आवर्त में सब आस पास के द्रव्य आने लगे और घन द्रव्य नीचे जमने लगे, हलके द्रव्य ऊपर गए। इसी घन द्रव्य से पृथ्वी हुई। इसी प्रकार सृष्टिक्रम चला। एक वार गति उत्पन्न कर फिर ईश्वर संसार में हाथ डालता है या

नहीं इस विषय में एनैक्सागोरस ने कुछ नहीं कहा है। इन्द्रियज ज्ञान विरुद्ध वस्तु का होता है अर्थात् जिस इन्द्रिय में प्रभा का अंश अधिक है उससे अन्धकार अधिक जिसमें हो उसीका ग्रहण होगा। इसीलिये दृष्टि भास्वर द्रव्य के पार हो जाती है और मन्द प्रभावाले द्रव्य को देखती है। ऐसा ही और इन्द्रियों के विषय में भी जानना।

जिस शतक में पूर्वोक्त चारों दार्शनिक हुए उस शतक में प्रायः बराबर दार्शनिकों में इन्द्रियज ज्ञान को प्रमाण न मानने की प्रवृत्ति रही और संसार की सृष्टि स्थिति आदि के विषय मे जो कल्पनाएँ संभव थीं वे निकल चुकी थीं। अब यह अन्वेषण स्वाभाविक आपड़ा कि मनुष्य का ज्ञान कहां तक ठीक है क्योंकि बिना इसका ठीक पता लगाए जो चाहे सो कल्पना मनुष्य कर ले सकता है। यह तो अवस्था मनुष्यों के चित्त की थी। इस समय ग्रीस देश की भी ऐसी अवस्था थी कि वक्तृता और तर्क से जो मनुष्यों के चित्त पर असर देसके उसीका प्रजाराज्य में अधिकार हो। ऐसी अवस्था में तर्क से सब मतों की परीक्षा करनेवाले सर्वमान्य को वक्तृता आदि से शिक्षा देनेवाले हेतुवादी तार्किक (Sophoi) हुए। इनमें से मुख्य प्रोटेगोरस नाम का था। यह डीमोक्रीटस् का मित्र था। हेरैक्लिटस ने दिखाया था कि कोई वस्तु जिसको हम इन्द्रियों से देख सकते हैं स्थिर नहीं है। इसलिये इन्द्रियज ज्ञान सत्य शुद्ध परमार्थ को नहीं बता सकता। परमार्थ जानने के लिये विवेक की शरण लेनी चाहिए। पर डीमोक्रीटस् ने दिखाया था कि विवेकशक्ति भी इन्द्रियजन्य ही है और वस्तुतः इन्द्रियज ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है। इन

दोनों मतों को मिलाकर प्रोटेगोरस ने यह स्थिर किया कि कोई ज्ञान स्थिर नहीं है और प्रत्यक्ष से इतर किसी वस्तु की स्थिति नहीं है । थेलीज़ आदि दार्शनिको के प्रथम द्रव्य, एम्पेडोक्लीज के तत्त्व, डीमोक्रीटस् के परमाणु या एनैक्सा-गोरस के पुद्गल सभी कल्पना मात्र हैं । मनुष्यो की इन्द्रियो के द्वारा जो वस्तु जैसी विदित होती है सो वैसी ही है । पर एक मनुष्य को जो वस्तु सुफेद जान पड़ती है वही दूसरे को पीली जान पड़ती है । एक को जो अच्छा मालूम होता है सो दूसरे को बुरा मालूम होता है । इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान भिन्न रूप का है और परमार्थ कोई एक वस्तु नहीं है । जो जिसको जान पड़े वही उसके लिये सत्य और परमार्थ है । इसलिये पारमार्थिकता व्यक्तिगत है, सर्वसामान्य के लिये एक नहीं है । इसी प्रकार धर्म आचार आदि के विषय में भी कोई एक बात ठीक नहीं है । जिसकी जैसी शिक्षा हो, जैसी रुचि हो और जैसा अभ्यास हो उसे वैसा ही आचार व्यवहार अच्छा जान पड़ता है ।

इस प्रकार प्रोटेगोरस् ने पहिले से जो मत स्थिर थे उनकी जड़ खोद डाली और नए प्रकार के विचारकों को अपने विचार प्रकाश करने का अवसर मिला ।

द्वितीय अध्याय।
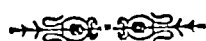
साक्रटीज़, प्लेटो अरिस्टाटल। साकृटीज़ उन दार्शनिकों में से प्रथम है जिन्होने पूर्वोक्त तार्किक के कुतर्कों का खण्डन कर पुनः दर्शन का नए प्रकार से स्थापन किया। यह स्वय बड़ा तार्किक था। इसका पिता पत्थर काटनेवाला था और माता गर्भरक्षा का काम करती थी। इसके पिता का नाम सोफ्रोनिस्कस था और माता का नाम फैनारेटी था। किसी किसी ने लिखा है कि यह एनैक्सागोरस का शिष्य था पर इस बात का पक्का प्रमाण नहीं है। यह तार्किकों के साथ प्रायः मिलता था और उनके व्याख्यानों को सुना करता था। पर इसका दार्शनिक विज्ञान किसी गुरू से नहीं मिला किंतु इसीके गम्भीर विचारों से आविर्भूत हुआ। अपने पिता का कार्य इसने सीखा था। पर विज्ञान में लगने के कारण इसकी जीविका अच्छी तरह नहीं हो सकती थी। किंतु बड़ी दरिद्रता की अवस्था में भी इसने अपने उदार विचारों को न छोड़ा। इसका जीवन बहुत ही साधारण था। न्याय दया भक्ति आदि गुणो के कारण यह मनुष्यों के लिये आदर्श-रूप समझा जाता है। इसका मुख्य कार्य बाज़ार आदि में जाकर अच्छे लड़को के सामने धर्म आदि पर व्याख्यान देना और उनको अच्छी रीति पर ले चलना था। अन्त में इसके मूर्ख शत्रुओं ने इस पर नास्तिकता आदि का अपवाद लगाया और इसके नगर के शासकों ने इसके विष द्वारा वध की आज्ञा दी। कारागार से इसके मित्रों ने भागने का प्रबन्ध किया पर

इसने इस छल को स्वीकार नहीं किया। शासकों की आज्ञा से इसे विष दिया गया और इसने शान्तिपूर्वक विष खाकर इस संसार को छोड़ा।

इसके दो प्रिय शिष्य थे एक प्लेटो और दूसरा जनोफन्। साक्रटीज़ का अपना कोई लेख न होने के कारण इन्हीं दोनों के लेखों से इसके दर्शन का पूरा पता लगता है। साक्रटीज का यह मत था कि मनुष्य को प्रकृतिविज्ञान से उतना लाभ नहीं है जितना कि आचार विज्ञान से। इसलिये आचार तत्त्वों का अन्वेषण ही दार्शनिकों का मुख्य कर्तव्य है। साक्रटीज़ समझता था कि ज्ञान और धर्म अभिन्न है। अज्ञानी धर्म नहीं कर सकता और ज्ञानी अधर्म नहीं कर सकता। अधर्म वही मनुष्य करता है जो अधर्म ही से अपने वास्तव लाभ की आशा रखता हो। जिसको यह पक्का ज्ञान है कि धर्म से पारमार्थिक लाभ है वह पुरुष कभी अधार्मिक नहीं हो सकता है। मनुष्य को आत्मज्ञान पर अर्थात् अपनी बुद्धि और शक्ति पर बराबर विचार रखना चाहिए। प्रायः जिस बात को मनुष्य कुछ नहीं समझते उसको भी वे समझते हैं कि वे अच्छी तरह जानते है, इसलिये सदा अपने ज्ञान की परीक्षा मनुष्य को करते रहना चाहिए। जिससे उचित प्रकार से लाभ हो वही कार्य मनुष्य को करना चाहिए। अपनी आवश्यकताओं को कम कर देने से और सहनशीलता आदि गुणों के बढ़ाने से मनुष्य का जीवन सुख से बीत सकता है।

साक्रटीज़ का मुख्य शिष्य प्लेटो था। इसका पिता एरिस्टो और माता पेरिक्नियनी दोनों ही बड़े प्रतिष्ठित और धनी वंश के थे, इससे प्लेटो को अच्छी शिक्षा का अवसर मिला।

प्लेटो का प्रथम नाम एरिस्टोक्लीज़ था । दर्शन का अभ्यास इसको केटिलस और साक्रटीज़ से हुआ । साक्रटीज़ की मृत्यु के समय यह बाहर था और उस वृत्तान्त को सुन कर उदास हो कर ईजिप्ट आदि देशो मे घूम कर एथेन्स में आया। वहां कुछ वर्ष रहने बाद फिर भी यह देशाटन के लिये गया। अनेक क्लेशो के बाद लौट कर एथेन्स की व्यायाम भूमि में और कुछ दिन अपने उद्यान में इसने पाठशाला खोल कर वहां पढ़ाना और व्याख्यान देना आरम्भ किया । यह बड़ा गणितज्ञ भी था । इन पाठशालाओं में गणित और दर्शन की शिक्षा होती थी । सच्चरित्र, विद्या और शान्ति से सब लोगों से मान पाकर बहुत से दर्शन के ग्रन्थ लिख कर अन्त तक पूर्ण शारीरक और मानसिक शक्ति रखता हुआ यह अस्सी बरस का हो कर मरा । इसके ग्रन्थ प्रायः संवाद के आकार में लिखे गए हैं । इनमें दो या अधिक पुरुष दर्शन और नीति आदि के विषय में परस्पर शङ्कासमाधान आदि करते है । ऐसे पैंतीस संवाद और तेरह पत्र प्लेटो के ज्ञात हैं । इन ग्रन्थों में साक्रटीज़ मुख्य वक्ता बनाया गया है और उस समय के और लोग शङ्का आदि करनेवाले हैं ।

प्लेटो के दर्शन में प्रायः चार विभाग हैं । यद्यपि प्लेटो ने अपने मुख से इन विभागों का नाम नहीं लिया है पर वस्तुतः इसका दर्शन इन विभागों में विभक्त हो सकता है—पहिला उपक्रम विभाग, दूसरा तर्क विभाग, तीसरा विज्ञान विभाग और चौथा आचार विभाग है ।

उपक्रम । दर्शन स्थापन के लिये प्लेटो ने यह दिखाया है कि जनता के सामान्य ज्ञान से या तार्किकों के तर्क से वस्तु

का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है । मासान्य जन प्रत्यक्ष और दूसरों के मत पर विश्वास करते हैं । अब इन दोनो प्रमाणों में प्रत्यक्ष से तो वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता क्योंकि प्रत्यक्ष से केवल यही विदित हो सकता है कि कौन वस्तु किसको कैसी मालूम होती है, उसका वास्तव रूप क्या है यह प्रत्यक्ष से नहीं विदित हो सकता । मतों में भी परस्पर इतना विरोध है कि किसको ठीक समझा जाय । इन मतो में प्रायः भ्रम का संभव रह जाता है । तो यदि प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण को छोड़ दिया तो तीसरा तार्किकों का तर्क है जिससे तर्कानुसारी लोग यथार्थ वस्तु ज्ञान का संभव बतलाते हैं । पर इन तार्किकों ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान आचार आदि सब व्यक्ति के अधीन हैं । जिस व्यक्ति को जैसी जो वस्तु विदित हो वह वैसीही है । इस नियम के अनुसार आचार धर्म आदि का मूल नष्ट होजाता है । क्योंकि इससे प्रत्येक व्यक्ति को जिसमें अपना सुख हो सके वही कार्य करना उचित होगा । इस प्रकार प्रत्यक्ष शब्द और तर्क का खण्डन कर प्लेटो ने यह स्थापन किया है कि वास्तव ज्ञान दार्शनिक विवेक से होता है । इन्द्रियों से बुद्धि पर, व्यक्ति से जाति पर पहुंच कर संवित् (Idea) का बोध विवेक है । सामान्य प्रत्ययों के द्वारा विचार करने से मनुष्य संवित् तक पहुंच सकता है ।

तर्क । साक्रटीज़ के मत से वास्तव ज्ञान सामान्य प्रत्ययों के द्वारा होता है । हेरेक्लीटस ने भी दिखाया है कि इन्द्रियों से केवल परिवर्तन का ग्रहण होता है । किस वस्तु का परिवर्तन बराबर इस संसार में हो रहा है यह इन्द्रियों से नहीं विदित

हो सकता। इसलिये सामान्य प्रत्ययों के द्वारा विचार करने ही से वस्तुज्ञान का संभव है। संसार में बहुत से लोग वीर उदार आदि हैं पर इन सभो में जो बीरता उदारता आदि सामान्य धर्म हैं जिनके द्वारा प्रति व्यक्ति कौन कितना वीर या उदार है यह हम समझ सकते हैं। वही सामान्य वीरता और उदारता का आकार (Idea) वास्तव है, उसीके नमूने पर सब वीर और उदार बने हैं। यह वीरता और उदारता आदि का आकार या सामान्य बोध केवल मनुष्य देवता आदि के मन में है ऐसा नहीं समझना चाहिए। ये आकार स्वयंभू और सनातन हैं, इनकी स्थिति किसी के अधीन नहीं है। इन आकारों में भी उत्तमता का आकार सबका मूल है। इसीके और सब भेद हैं। संसार में जितने धर्म हैं वीरता उदारता पाण्डित्य आदि सभों की स्थिति क्यों है यह यदि पूछा जाय तो यही उत्तर होगा कि ये सब धर्म आकार या सामान्य प्रत्यय अच्छे हैं, संसार की इनसे भलाई है इससे ये हैं। इसलिये उत्तमता-रूप धर्म और सब धर्मों का मूल है और सब वस्तुओं का सारांश है। व्यक्ति यद्यपि अशुद्ध अपूर्ण और अनित्य हैं तथापि उन व्यक्तियों में जो सामान्य धर्म है सो पूर्ण, नित्य और शुद्ध है। यही उत्तमता प्लेटो के मत से ईश्वर का स्वरूप है।

विज्ञान। असत् अनाकार शून्यरूप आकाश में सब सांसारिक वस्तुएं सत्स्वरूप संवित् या सामान्य प्रत्यय से उत्पन्न होती हैं। उनमें जो विकार आदि धर्म हैं सो असत् से बने हैं और उनमें जो स्थिर सत्ता है सो संवित्स्वरूप है। संवित् सब वस्तुओं का प्रथम नमूना है और सांसारिक वस्तुएं इसी

नमूने की नकल है *। इस प्रकार संवित् और मूर्त वस्तुएं यदि पृथक् है तो इन दोनो को मिलानेवाला और साथ ग्रहण करनेवाला कोई पदार्थ होना चाहिए। यह पदार्थ आत्मा है। विश्वात्मा (Demiurgus) का उद्भव प्लेटो के टीमयस् नाम ग्रन्थ मे विस्तारपूर्वक वर्णित है। यह विश्वात्मा संसार मे गति और जीवन देता है। यह आत्मा अमूर्त सर्वव्यापी चित्स्वरूप है। विश्वात्मा ने जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी के द्वारा सब मूर्त पदार्थ बनाया है। इन चार तत्त्वों से यह गोलाकार संसार बना है जिसके बीच में भूगोल है और चारों ओर तारे हैं। विश्वात्मा के जो धर्म हैं वे ही मनुष्य की आत्मा के भी हैं। लोकान्तर से जीवात्मा यहां आए है। जो मनुष्य विवेकी है और अच्छा कार्य करते हैं उनकी आत्मा लोकान्तर में उत्तम गति पाती है। जो नीच कार्य करते है उनकी नीच गति होती है और उन्हे छोटे जन्तुओं का जन्म लेना पड़ता है। पूर्व जन्म में जीवों ने संवित् के स्वरूप देखे हैं इसलिये वस्तुओं को संसार में देखते ही उनके मूल प्रत्ययों का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा का मुख्य रूप विवेक है। पर शरीर में प्रवेश होने से उत्साह और इच्छा दो धर्म और इसके हुए हैं। विवेक का स्थान मस्तिष्क, उत्साह का स्थान हृदय और इच्छा का स्थान शरीर का अधोभाग है।

आचार। आत्मा चित्स्वरूप है, मूर्त पदार्थों में इसका वास्तव कोई स्पृहणीय विषय नहीं है। शरीरबन्ध से मुक्त

* इन बातों से यह विदित होता है प्लेटो का मत विज्ञानवाद (Idealism) और द्वैत (Dualism) का मिश्रण है।

हो कर आत्माराम होना ही इसका मुख्य उद्देश्य हो सकता है। पर ज्ञान के साथ ही साथ शुद्ध चित्त से सांसारिक आनन्द (Eros) का ग्रहण करना मनुष्य का कर्तव्य है, क्योंकि सांसारिक वस्तु चित्पदार्थ ही की नकल है ऐसा पहिले दिखाया गया है। इसलिये चित्स्वरूप को प्राप्त होने के सांसारिक पदार्थ उपायभूत हैं और संसार में जो शिल्प कला आदि का सुख चित्तशुद्धि का विरोधी नहीं है इसका अनुभव करना उचित है। ज्ञानपूर्वक धर्म करना मनुष्य को उचित है। धर्म सदा सुखस्वरूप है। अधर्म दुःखमय है। धार्मिक को धर्म करने ही में आनन्द है। उस धर्म का पारितोषिक वह नहीं चाहता। इसी प्रकार अधार्मिक का बड़ा दण्ड उसका अधर्म ही है। अधर्म से बढ़ कर और कोई दुःख नहीं है। विचार उत्साह आत्मदमन और न्यायपरता ये चार मुख्य धर्म हैं।

प्लेटो का शिष्य अरिस्टाटल था। यह स्टेजिरा नगर के वैद्य निकोमेकस का पुत्र था। मेसिडन के राजा प्रसिद्ध सिकन्दर के अध्यापक का कार्य कुछ वर्ष तक इसने किया। सिकन्दर अनेक जन्तु आदि इसको भारत आदि देशों से अपनी विजययात्रा में भेजा करता था जिससे अरिस्टाटल को विज्ञान के अन्वेषणों में बड़ी सहायता मिली। एथेन्स नगर के लीकियम के बागों में यह अध्यापन किया करता था। सिकन्दर के मरने पर एथेन्स में लोगों ने राजविप्लव की अवस्था मे अरिस्टाटल पर नैतिक अभियोग लगाए जिस कारण वहां से हट कर वह काल्किस नगर में गया और कुछ दिनों में वहीं मर गया। ऐसा कोई दर्शन या विज्ञान का

विषय प्राचीन समयों में नहीं ज्ञात था जिस पर अरिस्टाटल ने कुछ न लिखा हो । न्याय शास्त्र का यूरोप में उपक्रम इन्होंने किया । आचार, नीति, शारीरक, जन्तुविद्या आदि अनेक शास्त्र इसने प्रकाश किए । दार्शनिक विषय को इसने प्रथम दर्शन के नाम से व्यवहार किया है । इसमें ईश्वर जगत् आदि सामान्य विषयों का प्रपञ्च है । द्वितीय दर्शन में गणित, जन्तु विद्या आदि विशेष विज्ञानों का वर्णन है । इसलिये दर्शन और विज्ञान इन दो भागों में इसके ग्रन्थो के विषय यहां कहे जांयगे ।

दर्शन । पदार्थ दस हैं—द्रव्य, परिमाण, गुण, सम्बन्ध, देश, काल अवस्थिति, सत्ता, कार्यकारिता, कार्यग्राहिता । परिमाण, गुण, संवन्ध का अन्वेषण विशेष शास्त्रों के अधीन है । दर्शन का मुख्य विषय सत्ता है । संवन्धानपेक्ष शाश्वत कैान वस्तु सब का मूल है इसका अन्वेषण दर्शन के द्वारा होता है । प्लेटो ने सामान्य प्रत्ययों को वस्तुओं से पृथक् माना है । पर सामान्य प्रत्यय विशेष वस्तुओं से पृथक् कैसे रह सकता है इसका प्रमाण उसने कुछ नहीं दिया है। सामान्य प्रत्यय वास्तव है पर विशेष वस्तु का वह आकार है, उससे पृथक् नहीं है । विशेष और सामान्य सर्वदा साथ रहते है। इन दोनों के मिलने से सब वस्तुएं जगत् में हैं । द्रव्यवादियों का आकाररहित द्रव्य वैसा ही असंभाव्य है जैसा संविद्वादियों का द्रव्यरहित आकार। इसलिये आकृति और द्रव्य दोनो सभी वास्तव पदार्थों में हैं और एक से दूसरा पृथक् केवल मनुष्य की बुद्धि में हो सकता है, संसार में नहीं पृथक् हो सकता । अब ये साकार पदार्थ कैसे उत्पन्न होते हैं इस विषय का कुछ विचार होना चाहिए।

प्राकृत या कृत्रिम जितनी वस्तुएं हैं सभी के निर्माण के लिये चार कारणों की अपेक्षा होती है। समवायिकारण, असमवायि-कारण, निमित्त कारण और उद्देश्य (Material, formal, efficient and final causes)। जैसे घड़ा बनाने में मिट्टी समवायिकारण या उपादान कारण है जिसको लिए हुए घड़े का निर्माण होता है। उस घड़े का कोई विशेष रूप है जिसके सदृश आकार कुम्हार के मन में भी था उसी आकार पर घड़ा बना है। यही कुम्हार के मन में जो घड़े का आकार है वह असम-वायिकारण हुआ। कुम्हार की शक्ति, चाक, डंडा इत्यादि निमित्तकारण हैं। इसी प्रकार पानी भरना या और जो घड़े का प्रयोजन है वह उद्देश्यकारण है। इन चारों कारणों में से भी असमवायि, उद्देश और निमित्त, ये तीनों एक ही तत्त्व में पाए जाते है जैसे कि मनुष्य की उत्पत्ति में तीन कारण मनुष्य के आकारस्वरूप हैं, केवल समवायिकारण भिन्न है। अर्थात् पिता माता में जो मनुष्य का आकार है वह पुत्र का असमवायिकारण है। वही आकार अपनी शक्ति से दूसरा आ-कार अपने सदृश उत्पन्न करता है। इसलिये वही निमित्त कारण हुआ। वैसा आकार उत्पन्न हो यही माता पिता का प्रयो-जन है इसलिये आकार ही उद्देश्य हुआ। केवल जिन वस्तुओं का शरीर बना है वह समवायिकारण पृथक् रहा। इसलिये मुख्य दोही कारण है, आकार और द्रव्य। इन्हीं दोनों वस्तुओं से सब कुछ बना है। इनमें भी आकार प्रधान है, द्रव्य केवल सहकारी है। द्रव्य वस्तु का अपूर्णरूप है। आकार पर पहुंचने के लिये द्रव्य की प्रवृत्ति होती रहती है। अपूर्ण द्रव्य का अपने पूर्ण आकार में परिणाम होता

है। इसलिये द्रव्य, परिणाम और आकार ये तीन विषय सर्वत्र अरिस्टाटल के दर्शन में मिलते है।

अरिस्टाटल के मत से सब कुछ द्रव्य और आकार दोनों से मिलकर बना है। मनुष्यों का शरीर द्रव्य है और आत्मा आकार है। केवल परमेश्वर शुद्ध पूर्ण आकार मात्र है द्रव्य से उसको सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर सब जगत् का निमित्त और उद्देश्य है। ईश्वर ने संसार मे प्रथम गति उत्पन्न की। वस्तुओं में जो गति है उसका एक के पहिले दूसरा, उसके पहिले तीसरा ऐसे ही कारणपरंपरा पाई जाती है। यदि कहीं ऐसी वस्तु इस परम्परा में न मानी जाय कि जो स्वयं स्थिर अचल हो कर भी औरों में गति उत्पन्न करती है तो अनवस्था दोष आता है। इसलिये ईश्वर वह वस्तु माना गया है जो स्वयं कूटस्थ और अचल है पर सब वस्तुओं की गति उत्पन्न करता है। जैसे सुन्दर प्राकृत पुष्प आदि या कृत्रिम चित्र आदि देख कर पुरुष मोहित होकर उसकी ओर आकृष्ट होकर दौड़ता है। सब का आदर्श स्वरूप महाशक्तिशाली ईश्वर है। ईश्वर अशरीर है इसलिये वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर को नहीं हैं। ईश्वर शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। ईश्वर सत् रूप से संसार में कारणात्मा है और संसार से बाहर भी है क्योंकि उसीके स्वरूप को प्राप्त करने के लिये सब संसार की प्रवृत्ति है। सभी वस्तुओं का स्वाभाविक नित्य ज्ञान ईश्वर को है।

द्वितीय दर्शन या विज्ञान। संसार गतिमय है। विज्ञान का मुख्य उद्देश्य गति के तत्वों का अन्वेषण है। गति ही परिवर्तन और विकार का कारण है। वृद्धि

और क्षय, गुण और परिमाण में भेद, स्थान की परिवृत्ति ये सब गति ही का भेद हैं। इनमें से भी स्थानपरिवर्तन गति का मुख्य आकार है। देश और काल दोनों गति के नियामक हैं। परिच्छिन्न और परिच्छेदक की सीमा को देश कहते हैं । वस्तुतः देश कोई शून्य या द्रव्यान्तर नहीं है। द्रव्यों के भीतर या बाहर शून्य कहीं नहीं है। एक द्रव्य के हटने से दूसरा द्रव्य उसके स्थान में आ पहुंचता है। वास्तव देश परिच्छिन्न है, क्योंकि जिसका आकार नहीं वह केवल संभाव्य है, वास्तव नहीं । इसलिये वास्तव देश अर्थात् सब जगत् गोलाकार है। काल केवल परिवर्तन की संख्या को बतलाता है और संभाव्य है इसलिये उसका अन्त नहीं है। जैसे शिल्पकला आदि में उद्देश्य साधन के लिये यत्न है वैसे ही प्रकृति के भी कार्य उद्देश्यपूर्वक होते हैं। प्रकृति में एक से एक वस्तु उत्तम देखी जाती है। निर्जीवों से उत्तम जीव हैं। जीवों में भी वृक्ष आदि मे केवल रसग्रहण और उत्पादन शक्ति हैं। ये पशु पक्षी आदि के उपयोग के उद्देश्य से बने हैं। पशु पक्षी आदि प्राणियों में रसग्रहण और उत्पादन शक्ति के अतिरिक्त संवेदन शक्ति भी है जिससे उनको सुख दुःख आदि का अनुभव होता है। प्राणियों में भी सबसे उत्तम मनुष्य है जिसके उपयोग के लिये शेष संसार है। पृथ्वी पर इससे उत्तम सृष्टि और कोई नहीं है। मनुष्य में जो विवेक शक्ति है इसके कारण यह सर्वोत्तम है । विज्ञान आत्मा का रूप है। आत्मा कोई पृथक् द्रव्य नहीं है पर शरीर की शक्ति है। इसलिये जिस शरीर में जो आत्मा है वह उसीमें रहेगी।

आत्मा का बन्ध और मोक्ष मानना भ्रम है। पर एक बात का ख्याल रखना चाहिए कि आत्मा में दो अंश हैं। एक अनुभवाधीन ज्ञान (Nous Pothetikos) और दूसरा शुद्ध अंश जो अनुभवनिरपेक्ष स्वयं ज्ञान स्वरूप है। इनमें अनुभवाधीन जो पराधीन अंश है सो तो नश्वर है। पर शुद्ध निरपेक्ष अंश (Nous Pointikos) अमर है। यह शुद्ध विवेक शक्ति प्रकृति का अंश नहीं है शरीराधीन नहीं है। यह शुद्ध आत्मा एक है या अनेक, यह साक्षात् ईश्वर है या और कोई पदार्थ है यह अरिस्टाटल के व्याख्याताओं को निश्चय नहीं हुआ है। अमूर्त शुद्ध आदि लक्षणों से प्रायः जान पड़ता है कि यह ईश्वर स्वरूप और एक है। मनुष्य में अनुभव और विवेक दोनों होने के कारण आचार अर्थात् उचितानुचित का अनुसरण और परिहार मनुष्य ही को हो सकता है। ईश्वर शुद्ध विवेक स्वरूप है इसलिये उसके यहां अनुचित का संभव ही नहीं है। छोटे जन्तुओं को विवेक नहीं है इसलिये उन्हे उचितानुचित का भेद ज्ञात ही नहीं हो सकता। केवल मनुष्य ही को अनुभव के द्वारा विषयों के ग्रहण का सामर्थ्य और विवेक के द्वारा कौन विषय ग्राह्य है और कौन अग्राह्य है इसके विचार का सामर्थ्य भी है। इसलिये आचार का संभव मनुष्य ही को है। आचार धर्म है और अधर्म दुराचार है। जिससे कोई व्यक्ति अपनी पूर्णता को पहुंचे वही धर्म है और जिससे अपूर्णता हो वही अधर्म है। तो यदि अनुभवांश या विवेकांश कोई भी मनुष्य का नष्ट हो या दुर्बल हो तो यह एक अपूर्णता है, इसीलिये अनुभव का मूल शरीर की रक्षा करते हुए विवेक के द्वारा निश्चिन्त और सुखी रहना

ही मनुष्य के लिये धर्म है। शरीर को नष्ट कर ईश्वरमय होने की इच्छा या विवेक को नष्ट कर संसार ही मे पड़ने की इच्छा दोनों ही मूर्खता है। धर्म व्यसन का अत्यन्त वि-रोधी है ऐसा नहीं समझना चाहिए। दो अन्तो के मध्य में प्रायः धर्म की स्थिति रहती है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' यही धर्म का तत्त्व है। कातरता और निरर्थक साहस दोनो ही पाप है उत्साह दोनों के बीच में है, इसलिये उत्साह को धर्म समझना चाहिए।

साक्रटीज़, प्लेटो और अरिस्टाटल ये तीन ग्रीस के सबसे बड़े दार्शनिक थे। इन तीनों के मतों को सांप्रतिक दर्शन और विज्ञान का भी मूल समझना चाहिए। आचार (Ethics) शास्त्र का उपक्रम साक्रटीज़ और उसके अनुयायियों ने किया। सत्ताशास्त्र (Ontology) का उपक्रम प्लेटो और उसके अनुयायियों से समझना चाहिए। विज्ञान (Natural Philosophy) की प्रायः सब शाखाओं की उत्पत्ति अरिस्टाटल और उसके अनुसारियों से है।

साक्रटीज़ के अनुयायियों में से अरिस्टाटल ऐंटिस्थे-नीज़ आदि कितनों ने आचार ही को मुख्य समझा और दूसरे युक्लीडीज़ आदि ने व्यावहारिक विषयों पर उतना ध्यान न देकर ज्ञान के विषयों पर अधिक ध्यान दिया। साइरीन के अरिस्टिपस् के मत से वास्तव सत्ता का ज्ञान मनुष्य को नहीं हो सकता। तार्किकों का अनुसरण कर इसने माना है कि प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान भिन्न है। दुर्व्यसनों से बच कर विचारपूर्वक सुखसेवन करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है। मैत्री आदि मानसिक सुख बाह्य सुखों से

उत्तम है, इसलिये इन सुखो पर अधिक श्रद्धा रखनी चाहिए। वाह्य सुखो के पीछे बहुत नहीं पड़ना चाहिए । साइरीन के दार्शनिको ने सुख को अन्तिम उद्देश्य मान कर अन्ततः कुछ विलक्षण ही निश्चय किया। हेजीसियस नाम का एक दार्शनिक इनमें हुआ जिसने यह दिखाया कि यदि मनुष्यका उद्देश्य सुख है औरसुख से कहीं अधिक दुःख इस संसार मेंअनुभव से देख पड़ता है तो इस दुःखमय जीवन को छोड़ने ही में सुख है इसलिये सबको आत्मघात करना ही उचित है। पर ऐसे मृत्यु-सुखवादी अपने मत का प्रचार न कर सके और फिर सांसारिक सुखवाद बड़ी प्रौढ़ता से एपीक्यूरस् ने चलाया जैसा कि शीघ्र दिखलाया जायगा ।

ऐंटीस्थेनीज़ दूसरा अनुयायी साक्रटीज़ का था । इसके मत से धर्म ही मनुष्य का उद्देश्य है, धर्म विरुद्ध सुख निरर्थक है । धर्माचरण का कोई और वाह्य उद्देश्य नहीं है । कर्तव्य बुद्धि से ही धर्म करना चाहिए । इस मत के अनुसारी भी डायोजेनीज़ आदि सभ्यता शील आदि छोड़ पशुओं के सदृश जीवन विताने लगे पर पुनः इसका संस्कार ज़ीनो नामक दार्शनिक ने किया और इस मत का पूर्ण प्रतिपादन किया जैसा कि आगे कहा जायगा ।

युक्लिडीज़ तीसरा अनुयायी साक्रटीज़ का बड़े विचार का दार्शनिक था । इसने पार्मेनिडीज़ की सत्ता और साक्रटीज़ का निश्रेयस दोनों एक हैं ऐसा कहा है । इसके अतिरिक्त इस दार्शनिक के विषय में कुछ नहीं विदित है । प्लेटो को इसके मत से बड़ी सहायता मिली ऐसा बोध होता है ।

प्लेटो के अनुयायी स्प्युसिपस् आदि हुए । पर इसके मत

का पुनः प्रचार चिरकाल के बाद प्लोटिनस आदि ने किया जैसा इस भाग के अन्त में कहा जायगा । अरिस्टाटल के अनुयायी फ्रैंसिस बेकन के समय तक सहस्त्रो हुए जिनका वर्णन स्थान स्थान पर होगा ।

तृतीय अध्याय।

अरिस्टाटल के समय मे सिकन्दर शाह (अलिक्ज़ांडर) ने ग्रीस देश का विजय किया। सिकन्दर के मरने के बाद देश की ऐसी अस्त व्यस्त अवस्था थी कि दार्शनिकों ने राजनीति आदि बाहरी विषयो को छोड़कर आचार आदि आत्मसंस्कार के लिये आवश्यक विषयों पर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। इन दार्शनिकों मे मुख्य ज़ीनो और एपीक्यूरस थे।

ज़ीनो, स्टोइक। ज़ीनो का जन्म सीप्रस् टापू में हुआ था। एथेन्स नगर में इसने अपने दर्शन का प्रचार किया। आचार इसका सदा श्लाघनीय था पर अन्त में इसने इच्छा-पूर्वक आत्मघात किया। इसके क्लिटोंथीज़ पर्सियस आदि अनेक अनुगामी थे। ज़ीनो और उसके अनुयायियों के मत से प्लेटो का संवित् (Idea) कोई पृथक् वस्तु नहीं है। प्रत्यक्ष ही सब ज्ञान का मूल है। संसार के अनुभव के पहिले आत्मा को ज्ञान नहीं था। जैसे मोम पर मोहर की जाय वैसेही आत्मा पर वस्तुओं से असर पड़ता है। इसीसे हम लोगों को बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। जब वस्तु का ठीक असर पड़ता है तो यथार्थ ज्ञान होता है। जब स्पष्ट असर नहीं पड़ता तो भ्रम और सन्देह होता हैं। वस्तु एक है। वही कभी बाह्य संसार और कभी अन्तःकरण के रूप से देख पड़ती है। आत्मा पृथक् पदार्थ नहीं है।

एकही वस्तु की स्थितिशक्ति को शरीर और कार्य-

शक्ति को आत्मा कहते हैं। जैसे मनुष्य आदि के शरीर में स्थितिशक्ति और कार्यशक्ति दोनों ही हैं वैसेही सम्पूर्ण संसार में भी है। संसार एक बड़ा जीव है जिसका शरीर यह सब पृथ्वी आदि है और आत्मा ईश्वर है। समस्त जगत् में ज्ञान, प्राण, बुद्धि, कृति, नियम आदि कार्य ईश्वर के रूप हैं। हेरैक्लिटस के सदृश ज़ीनो के अनुयायी भी अग्नि को मुख्य तत्त्व मानते हैं। प्राण अग्निमय है और संपूर्ण संसार युग के अन्त में जल जाता है और पुनः आविर्भूत होता है। ईश्वर जगत में सर्वव्यापिनी शक्ति रूप है ऐसा ऊपर कह आए हैं। उसका ज्ञान अनन्त है। संसार में जो दोष देख पड़ते हैं उनसे भी सब मिलकर लाभ ही है। जैसे परस्पर विरुद्ध स्वरों के मेल से अच्छी संगीत ध्वनि निकलती है वैसे ही सांसारिक दोष गुण आदि सब मिला कर उत्तम कार्य होता है।

ज़ीनो के अनुयायियों के मत से अमूर्त कोई पदार्थ वास्तव नहीं है। इसलिये आत्मा को ये लोग उष्णश्वास रूप मानते हैं। ईश्वर एक बड़ा समुद्र सा है जिसका एक विन्दुरूप यह जीवात्मा है। संसार जब प्रलयाग्नि से नष्ट हो जायगा तब जीवात्मा ईश्वर में मिल जायगी। पर ईश्वर आत्मा आदि की कल्पनाओं से क्या प्रयोजन है। ज़ीनो के अनुयायियों के अनुसार आचार मुख्य है। निष्कारण धर्म करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है। इसीसे हम लोगों की भलाई है। केवल बाह्य आचरण धर्म नहीं है। ऐसा अभ्यास हो जाय कि धर्म स्वभावतः हुआ करे, अधर्म की ओर प्रवृत्ति ही न हो तब मनुष्य को वस्तुतः धार्मिक

समझना चाहिए। विचार, न्याय, संयम, उत्साह आदि सब विशेष धर्मों का मूल एक है। इसलिये जो एक धर्म का आश्रय करेगा उसे और धर्म भी स्वयं सुलभ होंगे। धार्मिक पुरुष प्रकृति भवितव्यता या ईश्वर का न्याय सब को एक समझ कर संसार में ईश्वर के विचार से जो हो रहा है उसीको भला समझता हुआ निश्चिन्त शान्त सुखी स्वतन्त्र हो जाता है।

ज़ीनो के अनुयायी (जिनको लोग स्टोइक भी कहते है) वहुत से हुए और इस मत का बड़ा आदर और प्रचार सर्वत्र हुआ। रोम में भी सिसिरो सेनेका आदि इसके उत्तम अनुगामी हुए। रोम का धार्मिक सम्राट् मार्कस आरीलियस् भी इस मत का अनुसारी था।

ज़ीनो के साथही साथ एपीक्यूरस् नामक सुखवादी दार्शनिक का मत भी खूब चला। इसके भी अनुगामी ग्रीस और रोम दोनों ही प्रदेशों में हुए। जूलियस् सीज़र आदि रोम के बड़े बड़े लोग एपीक्यूरस् के मतानुसारी थे।

एपीक्यूरस्। जिस वर्ष ज़ीनो का जन्म हुआ उसी वर्ष गार्गेटोज़ नगर में एपीक्यूरस् का जन्म हुआ। अपने घर में और देश में देवताओं मे विश्वास आदि अनेक प्रकार की विज्ञानविरुद्ध कल्पनाओं को देख कर उन विश्वासों से अनेक कर्मजालों में पड़ कर मनुष्यों में अशान्ति और असंतोष पाकर इस दार्शनिक ने डीमोक्रीटस् के मत का अवलम्बन किया। शान्त संतुष्ट सुखमय जीवन बिताना ही इसके आचार शास्त्र का उद्देश्य है। मूर्त पदार्थ आत्मवादियों ने जैसा कहा है कि असत् है वैसा नहीं है। नित्य परमाणुओं

से बना हुआ अमूर्त संसार ही सत् है । मूर्त पदार्थों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । ये मूर्त पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। परमाणुओं की स्वाभाविक गति है । पर डीमोक्रिटस ने परमाणुओं में केवल अधोगति मानी है। एपीक्यूरस के मत से यह गति टेढ़ी और गोलाकार भी अकस्मात् हो जाती है । इसलिये सब वस्तुएं कारणपूर्वक ही होती है ऐसा इस दार्शनिक का मत नहीं है। कितनी वस्तुएं विना कारण अकस्मात् भी हो जाती हैं। इसलिये मनुष्य स्वतन्त्र है अकस्मात् जो चाहे सो कर सकता है। मनुष्य के सब कार्य पूर्व कर्मों से नियत हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए।

यह दुःख सुख आदि परस्पर विरुद्ध वस्तुओं से मिश्रित अपूर्ण ससार, पूर्ण सुखमय, देवताओं का या ईश्वर का बनाया हुआ नहीं हो सकता क्योंकि पूर्ण सुखमय पुरुष को अपूर्ण वस्तु बनाने से क्या प्रयोजन है । इसलिये एपीक्यूरस् देवता ईश्वर आदि अप्राकृत कोई वस्तु नहीं मानता । यदि मान भी लें कि जगत् किसी का वनाया हुआ है तो बनाई हुई चीज़ शाश्वत तो हो नहीं सकती, किसी विशेष समय में बनी होगी और इसके बनने से सुख या असुख बनानेवाले को हुआ होगा । यदि सुख हुआ तो सृष्टि के पहिले स्रष्टा को सुख न था या अल्प सुख था तो वह सदा सुखमय पूर्ण नहीं हुआ और यदि सृष्टि से उसे असुख हुआ तो भी वह सुखमय नहीं है । इसलिये जगत् स्वभावसिद्ध और शाश्वत है किसी का बनाया नहीं है। इसके अतिरिक्त यहां कांटा, कुशा, मरुस्थल, सर्प, व्याघ्र, बर्फ, व्याधि, अकालमृत्यु, शोक, दु.ख आदि से भरा हुआ यह संसार किसके रहने के

लिये बना । अप्राकृत पुरुषो को ऐसी वस्ती की आवश्यकता नहीं, प्राकृत पुरुषो में ज्ञानियो को संसार की अपेक्षा नहीं। तो यदि केवल मूर्खों के लिये यह बना है तो मूर्ख भी उपद्रवकारी क्यों बनाए गए और उनके आराम के वास्ते यह ससार भी क्यों बनाया गया । इसलिये अप्राकृत वस्तु देवता आदि सृष्टि के लिये आवश्यक नहीं हैं । वे यदि कहीं हों भी तो निश्चिन्त शान्त अलग पड़े होंगे, संसार में उनसे कोई लाभ हानि आदि नहीं है और लिट्टी भंटा आदि से पूजा करने की आवश्यकता नहीं है।

शरीर पर आघात आदि होने से आत्मा पर असर मूर्छा आदि देखा जाता है । इससे आत्मा सूक्ष्म मूर्त पदार्थ है । अमूर्त होता तो मूर्त शरीर के आघात से उसको मूर्छा कैसे होगी। इसलिये आत्मा भी मूर्त है और शरीर के साथ ही उसकी उत्पत्ति होती है, साथही उसका नाश भी होता है । बच्चे की बुद्धि छोटी और जवान की बुद्धि पक्की होती है, फिर बूढ़े सठिया जाते है । इससे भी जान पड़ता है कि शरीर के सदृश मूर्त घटने बढ़नेवाली कोई चीज़ आत्मा है । मरने के समय आत्मा धीरे धीरे निकल कर परलोक को भागती हुई नहीं जान पड़ती किन्तु केवल शरीर की शक्ति घटती जाती है । इन बातों से भी अमूर्त परलोकगामिनी आत्मा सिद्ध नहीं होती। फिर यदि जैसे मनुष्य घर से ससुरार जाय वैसे यदि आत्मा इस लोक से परलोक जाय तो मृत्यु से मनुष्य डरते क्यों है । इसलिये लोकान्तरगामिनी आत्मा कोई वस्तु नहीं है और मनुष्य

को मरण का भय, स्वर्ग की स्पृहा या नरक का त्रास आदि करना व्यर्थ है।

मरण का भय तो सर्वथा व्यर्थ और निर्मूल है। यदि आत्मा सद्वादियों के अनुसार सत् है तो मै मरा ही कहां कि भय हो और यदि शरीरनाश के बाद आत्मा है नहीं तो जलने का, कीड़ों के काटने का या नरक आदि का भय किस को। लोग समझते हैं कि मरे भी और न भी मरे इसीलिये मरने पर भी उन्हे क्लेश का भय रहता है। असल में पूछो तो मरण से किसी को सम्बन्ध ही नहीं है क्योंकि जब तक ज़िन्दा है तब तक मौत है नहीं, और जब मर गया तो मौत का ज़िन्दगी से वास्ता नहीं। इसलिये मौत कोई ऐसा जानवर नहीं है कि जो जानवर जीते जिन्दगी आकर धीरे धीरे पकड़ के खाय। इस कारण ज्ञानवान पुरुष को मृत्यु का भय दूर करके निश्चिन्त शान्त सुखमय जीवन बिताना चाहिए। धर्म मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। सुख ही धर्म का भी उद्देश्य है। पर उत्तेजन और उसके बाद थकावट से सुख नहीं होता। इसलिये इन्द्रियों को विषयों मे अत्यन्त लगाना उचित नहीं है। शारीरक सुखों की अपेक्षा मानसिक शान्ति अधिक स्पृहणीय है।

पीरो। अरिस्टाटल के समय में सिकन्दर का एक मित्र पीरो नामक दार्शनिक हुआ था। इसने थेलीज़ से लेकर अरिस्टाटल तक दार्शनिकों के मतों में अत्यन्त परस्पर विरोध देख कर और मनुष्य की ज्ञान शक्ति का वास्तव सत्ता तक पहुंचना असंभव समझ कर किसी बात का निश्चय नहीं करना और सहसा कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी, सर्वदा संशय

से मग्न रहना इस मत का प्रचार किया। थेलीज़ आदि ने संसार के मूल आदि का ज्ञान हो सकता है ऐसी प्रमाण के विना ही कल्पना करली थी। तार्किकों ने पूर्ण विचार विना किए ही इन वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता यह प्रतिपादन किया था। इसलिये पीरो की दृष्टि से ये दोनों मत भ्रममूलक हैं और विचारशील दार्शनिक को पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान हो सकता है या नहीं इस विषय में संदिग्ध ही रहना उचित है। इस संशयवाद का पुनः एनेसिडमस् के समय में बड़े आडम्बर के साथ उत्थान हुआ जैसा इसी अध्याय में आगे लिखा जायगा। संशयवाद इस समय यहां तक प्रबल हो चला कि प्लेटो के अनुयायी और उसकी अध्यापन शाला (Academy) के रक्षक आर्कीसिलाइस् कार्नियेडीज़ आदि भी संशयवाद का अवलम्ब करने लगे। आर्की-सिलाइस ने इन्द्रियजन्य, बुद्धिजन्य और सामान्य प्रत्यय रूप ज्ञानों को असंभव और भ्रममूलक दिखाया और आर्कीसिलाइस और कार्नियेडीज़ दोनों ही ने स्टोइक दर्शन जो कि इस समय प्रचरित था उसका खण्डन किया। कार्नियेडीज़ ने प्रतिपादन किया कि इन्द्रियजन्य ज्ञान सभी परस्पर विरुद्ध हैं और भ्रम देनेवाले हैं इसलिये क्या सत्य है इसके जानने के लिये कोई उपाय नहीं है। फिर स्टोइक लोग कैसे कह सकते हैं कि क्या आचार है, क्या अनाचार है, क्या धर्म है, क्या अधर्म है। किसी वस्तु का उपपादन प्रमाण ही से होगा पर प्रमाण ठीक है या नहीं इसके लिये एक और प्रमाण चाहिए। इसलिये बड़ी अनवस्था होगी और किसी बात का अन्तिम प्रमाण देना वस्तुतः संभव नहीं

है। इसी प्रकार स्टोइक लोगों का ईश्वर भी सिद्ध नहीं हो सकता। एक तो यदि ईश्वर की सृष्टि यह संसार है तो इतने दोष और उपद्रव क्यों इसमें है, दूसरे ईश्वर सत्स्वरूप ज्ञानवान् पुरुष है तो यदि सगुण और सशरीर उसे मानें तो वह ईश्वर अनित्य हो जाता है, यदि निर्गुण माने तो ऐसी वस्तु अभावस्वरूप ज्ञानादि हीन हो जाती है। इस प्रकार एक ओर संशयवाद का प्रचार हो रहा था और दूसरी ओर संग्रहवादियों ने अपना मत प्रचार करना आरम्भ किया। संग्रहवादियों ने संशयवाद के सूखे कुतर्कों से उकता कर यह दिखलाया कि भिन्न मतों में परस्पर विरोध होने के कारण सभी में विश्वास न करना अनुचित है। जो विरुद्ध बातें हों उन्हे छोड़कर सब मतों को मिलाकर ठीक अविरुद्ध बातों के संग्रह करने के एक कार्य का मार्ग निकाल कर मनुष्य को अपना आचार व्यवहार लोक परलोक आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। इधर संशयवादियों के कुतर्कों से लोग उकताए थे, उधर ग्रीस पर रोम का विजय हुआ। रोमन लोग कार्यशक्तिशाली थे। उनको अज्ञता और अश्रद्धा मे पड़कर नष्ट होना कभी पसन्द नहीं हो सकता था। इसलिये उन लोगों के संघर्ष से संग्रहवाद को बड़ा उत्साह मिला और भिन्न भिन्न मतानुसारी दार्शनिक परस्पर मिल कर मतों की संगति दिखाने के लिये प्रस्तुत हुए।

वोथिसस, पेनीटियस, पोसीडोनियस, जेसन, जिमिनस, केटो आदि स्टोइक; मेट्रोडोरस, फाइलों, न्युकुलस्, ऐंटियोकस्, आदि प्लेटो के अनुयायी, अरिस्टो क्रेटिपस आदि अरिस्टाटल के अनुगामी, तथा सिसिरो, सेनेका, लूशियन, गेलेन आदि प्रसिद्ध

दार्शनिक और वैज्ञानिकों ने संग्रहवाद का अनुसरण किया। इन विद्वानों ने कोई दार्शनिक नवीन विषय नहीं निकाला इसलिये इनकी उक्तियों का विस्तृत वर्णन यहां नहीं किया जाता।

इस प्रकार संशयवादियों का और संग्रहवादियों का संघर्ष चल रहा था। पर अभी तक संशयवादी शुद्ध दार्शनिक थे। केवल तार्किक युक्तियों के विचारों में परस्पर विरोध दिखा कर उन्होंने मतों का खण्डन किया था। अब विज्ञान के बल से शुद्ध दार्शनिक तर्कों के अतिरिक्त शरीरशास्त्र (Physiology) और सामान्यतः अनुभव मूलक और विषयों की सहायता से एनेसीडमस् और उसके अनुगामी सेक्सटस एम्पिरिकस ने प्रचीन सब मतों का नए ढंग से खण्डन करना आरम्भ किया।

सेक्सटस, एम्पिरिकस् और एनेसिडिमस्। जैसे पित्तोपहत मनुष्य को सब पीला ही सूझता है वैसे ही इन्द्रियों की रचना में भेद होने के कारण सम्भव है कि प्रत्येक जन्तु को भिन्न रूप का संसार देख पड़े। एकही वस्तु स्त्री आदि से किसी को सुख, दूसरे को दुःख आदि होने से स्पष्ट विदित होता है कि सब लोग एक वस्तु को एक ही दृष्टि से नहीं देखते। एक ही वस्तु एक इन्द्रिय को सुख और दूसरी इन्द्रिय को दुःख देती है जैसे जो पत्थर आंख को अच्छे रंग का देख पड़ता है वही हाथ को रूखा मालूम हो सकता है। जब कि एकही वस्तु (नारङ्गी) चिकनी मीठी लाल गोल आदि अनेक धर्मों से युक्त विदित होती है तो संभव है कि या तो वह वस्तु शुद्ध एक धर्मक हो

और इन्द्रियों पर उसका भिन्न भिन्न असर इन्द्रियों के धर्म-भेद से पड़ता हो या उसके वस्तुतः उतने ही गुण हों जैसी कि वह जान पड़ती है या एक तीसरी ही बात ठीक हो कि जितने गुण उस विस्तु के हम लोग पाते हैं उनसे कहीं अधिक गुण उसमें हों पर उन गुणों के ग्रहण करने के योग्य इन्द्रिय हमें नहीं है इससे उन गुणों को हम नहीं अनुभव कर सकते और पांच ज्ञानेन्द्रियां हमें होने के कारण रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द पांच ही गुणों का हम अनुभव करते हैं। अवस्था और सम्बन्ध के भेद से एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु भिन्न जान पड़ती है। घी साधारणतः अच्छा लगता है, पर बीमारी में तीता लगता है। दूर से वस्तु छोटी और समीप से बड़ी देख पड़ती है, जवानी में जो विषय अच्छे लगते हैं सो बुढ़ापे में नहीं। किसी वस्तु के शुद्ध अपने गुण पृथक् नहीं मिलते, या तो देखनेवाले के शरीर के गुणों से या आस पास की वस्तुओं के गुणों से मिले हुए अनुभव में आते हैं। एकही वस्तु का तौल पानी में हलका और हवा में भारी होता है। बुद्धिमान् के बुद्धिगुण से जो चीज़ जैसी जान पड़ती है वैसी वही चीज़ मूर्ख को नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार देश आचार अभ्यास आदि के भेद से जो एक पुरुष को अच्छा मालूम होता है वही दूसरे को बुरा मालूम होता है, जो एक को धर्म जान पड़ता है वही दूसरे के लिये अधर्म है। रोम का लम्बा चोगा ग्रीसवालों को बुरा देख पड़ता है और एक देश की मूर्तिपूजा और हिंसापूर्ण यज्ञ धर्मसा और दूसरे देश को अधर्म सा देख पड़ता है। इन कारणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वस्तु का स्वरूप क्या है यह

हम कभी नहीं जान सकते । हमे वह वस्तु अपनी इन्द्रिय-रचना, शिक्षाप्रणाली आदि के अनुसार कैसी देख पड़ती है इतनाही हम कह सकते हैं ।

इस प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और तत्प्रयोज्यज्ञान का खण्डन कर एनेसीडिमस ने कारणता का भी खण्डन किया । कार्य-कारण-भाव या तो दो मूर्त पदर्थों मे या दो अमूर्त पदार्थों में या एक मूर्त और एक अमूर्त पदार्थ में रह सकता है । अब एक मूर्त पदार्थ से दो कैसे हो जासकते हैं इसका संभव नहीं है । अमूर्त से अमूर्त यदि हो भी सके तो उससे इस मूर्त संसार की सिद्धि नहीं होती । अमूर्त से मूर्त या मूर्त से अमूर्त की उत्पत्ति मानना भी संगत नहीं होता क्योंकि अमूर्त और मूर्त को कोई संसर्ग हो नहीं सकता । इसके अतिरिक्त यह भी आपत्ति है कि कारण के गुणों से विरुद्ध गुण कार्य में तो हो ही नहीं सकते क्योंकि ऐसा होता तो पशु से चिड़िया, वालू से तेल आदि भी उत्पन्न हो सकता और यदि मूर्त और अमूर्त के वीच कार्य-कारण-भाव मानें तो विरुद्ध गुण की उत्पत्ति आपड़ती है । इसलिये कार्य कारण-भाव सर्वथा विरोधग्रस्त है और मानने के योग्य नहीं है । केवल इतना ही नहीं और भी अनेक विरोध कार्य कारण-भाव के मानने पड़ते हैं । एक समान वस्तु से दो समान वस्तुएं हो नहीं सकतीं और असमान से असमान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ऐसा अभी कहा गया है। यह एक विरोध हुआ । दूसरा विरोध यह है कि कार्य से कारण पहिले रहता है या उसके साथ रहता है या उसके वाद आता है । यदि कारण पहिले और कार्य पीछे हो तो जब तक कारण

है तब तक कार्य नहीं, जब कार्य आया तो कारण नहीं है। तो दोनों में सम्बन्ध ही कहां है कि एक कार्य और दूसरा कारण होगा। कार्य कारण दोनों एक साथ मानें तो कौन कार्य कौन कारण इसका निर्णय होना दुर्घट होगा। कार्य के बाद कारण मानें तो वह बौड़हे की बकवाद सा जान पड़ता है। क्योंकि बेटे के बाद कहीं भला बाप का जन्म होता है। तीसरा विरोध यह है कि कारण क्या स्वतन्त्र ही कार्योत्पादक होता है या किसी अन्य वस्तु द्वारा। यदि कारण स्वतन्त्र कार्यकारक हो तो सदा कार्य होता रहना चाहिए जैसा कि देखने में नहीं आता और यदि अन्य वस्तुओं की सहायता की अपेक्षा है तो ये वस्तुएं भी कारण हुईं और इन दूसरे कारणों को किसी तीसरे की अपेक्षा होगी, तीसरे को चौथे की, बस कहीं ठिकाना ही नहीं लगेगा और बड़ी भारी अनवस्था होगी। चौथा विरोध कार्यकारण भाव में यह पड़ता है कि कारण के अनेक गुण हैं या एक। यदि एक गुण कहें तो अग्नि से कभी चावल पकता है, कभी जल जाता है, ये दो कार्य कैसे एकही चीज़ से हो सकते हैं। यदि अनेक कहें तो एक ही काल में अग्नि से पकाना, जलाना आदि अनेक कार्यों की उत्पत्ति क्यो नहीं होती। अन्ततः पञ्चम विरोध पड़ता है कि मृत्तिका से घट, पानी से बर्फ़, चावल से भात होजाता है ऐसा जो कहते हैं उनकी उक्ति सर्वथा असंगत है क्योंकि एक वस्तु मे अनेक विरुद्ध धर्म तो हो नहीं सकते, इसलिये जो पिघला हुआ है सो कड़ा नहीं हो सकता, जो कड़ा है सो पिघल नहीं सकता अर्थात् कड़े चावल का नरम भात, या द्रव

रूप जल का कठिन वर्फ कभी नहीं हो सकता, इसलिये कार्य कारण का भाव मानना सर्वथा असंगत है।

एनेसीडिमस के अनुगामी बहुत से दार्शनिक हुए। पर सब से अन्तिम और महावैज्ञानिक सेक्स्टस एम्पिरिकस हुआ। यह अलिकज़ाण्ड्रिया नगर में रहता था। वहां दर्शन की दुर्बल अवस्था देख लोग गणित विज्ञान आदि की ओर प्रवृत्त थे। पर सेक्स्टस ने प्रतिपादन किया कि न केवल दार्शनिक ही सिद्धान्त किन्तु गणित विज्ञान आदि के भी सिद्धान्त वैसे ही विरोध और संशय से ग्रस्त थे। रेखागणित बड़ा पक्का शास्त्र समझा जाता है पर विन्दु की स्थिति इस शास्त्र में मान और उस को साथ ही साथ आयाम हीन भी कहते हैं। भला जिसका आयाम नहीं उसकी तो मन में कल्पना भी नहीं हो सकती, संसार में कहां से कहीं स्थिति हो सकती। ऐसी ही रेखा को दीर्घ मानते हैं पर दीर्घताहीन विन्दुओं से रेखा वनी है यह भी मानते हैं। भला एक अन्धा नहीं देख सकता तो क्या सौ अन्धे मिल जांय तो कभी उनमें दृष्टि शक्ति आ सकती है। कभी नहीं। वैसे ही यदि एक विन्दु सर्वथा आयामहीन है तो उन विन्दुओं की समूहरूप रेखा में या रेखासमूह समतल में कैसे आयाम आ सकता है। इसलिये गणित विज्ञान आदि की भी वही दशा है जो दर्शन की।

अन्ततः संशयवादी यहां तक संशय में पड़े की संशय है सभी विषयों में या निश्चय है इसको भी वे ठीक नहीं कह सकते थे और इनकी कुकल्पनाओं से मनुष्यों की श्रद्धा घटने लगी।

इस प्रकार संशयवाद से सब दर्शन का लोप होने पर प्रकृति शास्त्र की वृद्धि होने लगी। इतस्ततः पीथागोरस के नए अनुयायियों ने ज्योतिष का अध्यायन आरम्भ किया और वैज्ञानिक गेलेन आदिकों ने विज्ञान की शाखाओं का प्रचार किया जिसका विस्तृत वर्णन दार्शनिक इतिहास में नहीं हो सकता। इजीप्ट के नए महानगर अलिकज़ाण्ड्रिया में सब विद्याओं का एकत्र होना आरम्भ हुआ। यहां सात लाख पुस्तकों की एक पुस्तकशाला थी। संसार के अनेक दार्शनिक और वैज्ञानिक हिन्दुस्तानी यहूदी रोमन ग्रीक सब यहां आया करते थे। यहीं ग्रीक दर्शन की वृद्धावस्था के अन्तिम तीन सन्तान उत्पन्न हुए—१ पीथागोरस के नए अनुगामी, २ यहूदी धर्म और ग्रीक दर्शन के योग करने वाले, ३ प्लेटो के नए अनुयायी। अब यहां इन तीनों का संक्षिप्त वृत्तान्त देकर ग्रीक अर्थात् प्राचीन दर्शन समाप्त किया जायगा।

इस समय जो पीथागोरस के नए अनुयायी हुए उनमें किसी नए विचार का आरम्भ नहीं हुआ। इनको संग्रह-वादी समझना चाहिए। पीथागोरस प्लेटो अरिस्टाटल इन तीनों की दार्शनिक बातों को मिलाकर कुछ ख्रीस्ट धर्म पुस्तकों की बातों को भी मिला जुला कर किसी प्रकार इन लोगों ने नष्ट होते हुए ग्रीक दर्शन को कुछ दिन तक सम्हाल रक्खा। प्लुटार्क नामक प्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान् इन्हीं का अनुयायी था। प्लुटार्क के मत से मनुष्य की ज्ञानशक्ति अत्यन्त क्षुद्र है। कभी कभी करुणामय ईश्वर साक्षात् ज्ञानों को प्रकाश कर मनुष्य के हृदय को अज्ञान से बचाता

है। जो लोग शान्त रहते है बहुत छपटाते नहीं उन्हींके ऊपर यह कृपा परमेश्वर की होती है। संसार मे जितने देव पूजे जाते हैं वे ईश्वर ही हैं केवल नाम का भेद है। दर्शन के इतिहासकारों ने बहुत से इसे ऐसे विचार इस प्रकरण मे दिए हैं जिनमे कोई नई बात नहीं है इसलिये यहां इसका विशेष विवरण नहीं किया जाता।

फाइलो। यहूदी फाइलो अलिकज़ाण्ड्रिया नगर का दार्शनिक था। यह ग्रीक दर्शन का पूर्ण तत्त्ववेत्ता था तथापि ख्रीस्ट के पहिले यहूदी धर्म की जो पुस्तकें संगृहीत हुई थीं इनमें इसकी बड़ी श्रद्धा थी। इन पुस्तकों को यह ईश्वर से प्रकाशित समझता था। इसने ग्रीक दर्शन को यहूदी धर्म शास्त्र से अच्छी तरह मिलाया। यद्यपि कई और दार्शनिकों ने ऐसा प्रयत्न किया था पर वे फाइलो के सदृश सफल नहीं हुए।

फाइलो के मत से ईश्वर अनिर्वचनीय निर्गुण सर्वथा पूर्णस्वरूप है। क्या वस्तु ईश्वर है यह हम लोग कभी नहीं जान सकते। ईश्वर की सत्तामात्र मनुष्य जान सकता है। इसीलिये ईश्वर का नाम येहोवा अर्थात् सत् है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सबका आदि कारण है। महत्तत्त्व ईश्वर की प्रथम सृष्टि है। इसी महत् (Logos) के द्वारा ईश्वर सब संसार को बनाता है। इस महत् के बाद क्रम से देव दानव आदि हुए। जड़ प्रकृति सब सांसारिक दुःख का कारण है। इसी अज्ञ जड़ प्रकृति से महत् के द्वारा ईश्वर ने जगत् बनाया। अज्ञानमूलक आत्मा का बन्धन है। शुद्ध ज्ञानी आत्मा अशरीर और मुक्त हो जाता है। पर अज्ञों की

आत्मा अशुद्धि को जन्मान्तरों में हटाने के लिये अनेक शरीर धारण करती है। आत्मा स्वतन्त्र है चाहे तो शरीर बन्धन को तोड़ सकती है पर शरीर के सम्बन्ध से इसकी पाप मे प्रवृत्ति होती रहती है जिसके कारण बन्धन नहीं छूटता। सबके ऊपर मुक्ति का उपाय ईश्वर में श्रद्धा है। जिसको ईश्वर मे विश्वास है वही मुक्त हो सकता है। जब संसार से छूटते छूटते मनुष्य महत् (Logos) के भी पार पहुंचता है तब ईश्वर मिलते हैं और मुक्ति होती है।

इस रीति से ग्रीक दर्शन अन्ततः यहूदी धर्म से मिश्रित हुआ। ग्रीक दर्शन के अन्तिम लेखक प्लोटिनस आदि के मतों में बहुत सी पूर्वदेश की धर्म सम्बन्धी बातें पाई जाती हैं। प्लेटो के दर्शन को नवीन जीवन प्लोटिनस ने दिया। इसकी शिक्षाओं का प्रचार रोम में हुआ जहां इसकी एक पाठशाला थी। इस समय का रोम का सम्राट गैलियेनस् इसे बहुत मानता था। आचार विद्या आदि गुणों से अपने समय के सर्वसाधारण में भी इसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसके ग्रन्थ इसकी मृत्यु के बाद इसके शिष्य पर्फेरी ने प्रकाशित किए।

प्लोटिनस और उसके अनुगामी। प्लोटिनस के दर्शन का उत्थान ईश्वर से है और कैवल्य मुक्ति अर्थात् ईश्वरस्वरूप हो जाना ही इसका उद्देश्य है। इसलिये ईश्वर का स्वरूप, ससार का ईश्वर से आविर्भाव, इस संसार का ईश्वर मे लय और मुक्ति का स्वरूप ये चार मुख्य विषय प्लोटिनस के प्रतिपाद्य है। कार्य से कारण और प्रमेय से प्रमाता अवश्य भिन्न है। इसलिये ईश्वर अप्रमेय अनन्त

निराकार और अनिर्वचनीय है क्योंकि प्रमेय साकार आदि पदार्थ तो उसके कार्य हैं। अशरीर अमनस्क कृति और विकृति से रहित परमेश्वर है। सब भेद ज्ञाता ज्ञेय आदि रूप सांसारिक हैं। अद्वितीय संसार से परमेश्वर में ये भेद संभाव्य नहीं है। ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदि का कारण वाह्य वस्तु है पर एक अद्वितीय ईश्वर के समीप वाह्य वस्तु की सत्ता और अपेक्षा नहीं है इसलिये ये धर्म ईश्वर में नहीं हो सकते। शुद्ध निराकार सत् और असत् दोनों से, पर प्रमाण और प्रमेय से अतिरिक्त, ईश्वर का उपपादन पहिले पहल प्लोटिनस ने यूरोप में किया। प्लोटिनस के मत से ईश्वर के कोई गुण या उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह सब विकारों से रहित सब प्रमेयों से भिन्न है।

जैसे पूर्ण समुद्र की लाखों तरङ्गे हैं और जैसे प्रकाशमय सूर्य की असंख्य किरणें हैं वैसे ही ईश्वर की यह सब सृष्टि है। वस्तुतः सृष्टि क्यों हुई और इसका ईश्वर से क्या संम्बन्ध है यह कहा नहीं जा सकता। सृष्टि को ईश्वर की छाया या प्रतिविम्ब समझना चाहिए। महत् (Nous) ईश्वर की प्रथम सृष्टि है। इस महत् से जीवात्मा आदि का आविर्भाव प्लेटिनस ने बताया है। आत्मा स्वभाव ही से ज्ञानमयी है। इस ससार से आत्मा का संबन्ध काल्पनिक है इस कारण इन्द्रियार्थों के बन्धन से छूट कर ज्ञानमय जीवन बिताना ही आत्मा के लिये परम सुख है। चित्तशुद्धि (Katharsis) मुक्ति का प्रथम उपाय है। सामाजिक नैतिक आदि कर्म अपरिहार्य है। शारीरक कर्म सब को करना ही पड़ता है वाह्य प्रत्यक्ष से वस्तु की छाया

मात्र विदित होती है। तर्क से कुछ वस्तु का और अधिक परिचय होता है। पर वाह्य प्रत्यक्ष और तर्क दोनों ही से बढ़ कर आन्तर अनुभव (Immediate intuition) है। यह आन्तर अनुभव या ध्यान केवल महत् तक पहुंचा सकता है। इसके भी ऊपर समाधि (Extasis) की अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद सर्वथा लुप्त हो जाता है। इसीको असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं जिसमें पहुंचने पर दिव्य ज्ञान की ज्योति स्वयं प्रकाशित हो जाती है।

प्लोटिनस के शिष्यों में मैल्कस पर्फरी मुख्य था। इसकी जन्मभूमि फिनिश्शिया का टायर नगर था। धर्म तप यम नियम आदि से चित्त को शुद्ध कर समाधि या तुरीय अवस्था में पहुंच कर मुक्त होना पर्फरी के अनुसार मनुष्य का परम उद्देश्य है। यह स्वतन्त्र विचार का दार्शनिक नहीं था। प्लोटिनस के ग्रन्थों का प्रकाशन और व्याख्यान इसके मुख्य कार्य थे।

कैल्किस का दार्शनिक आयैम्ब्लिकस पर्फरी का शिष्य था। इसने इजीप्ट आदि पूर्व देशों से देववाद की शिक्षा पाई। तीन सौ साठ देवता अनेक देवदूत अनेक असुर आदि मनुष्यों की सहायतार्थ संसार में हैं ऐसा यह समझता था।

कुस्तुन्तुनियां का प्रोक्लस प्लोटिनस के दर्शन का अन्तिम व्याख्याता हुआ। यह धार्मिक और तपस्वी था। सर्ग स्थिति और प्रलय ये तीन व्यापार संसार में मुख्य हैं। ईश्वर से महत् का आविर्भाव है जिसके तीन गुण हैं–दिव्य मर्त्य और आसुर (सत्त्व रजस् और तमस्)। जिसपर परमेश्वर की कृपा होती है उसीकी मुक्ति होसकती है। बुद्धि से

ईश्वर तक कोई नहीं पहुंच सकता क्योंकि ईश्वर अप्रमेय और बुद्धि के अगोचर है ।

प्रोक्लस प्रायः अन्तिम ग्रीक दार्शनिक था । इसके बाद ग्रीक दर्शन का सर्वथा लोप हुआ और अन्ततः रोम के सम्राट जस्टिनियन् की आज्ञा से एथेन्स की दार्शनिक पाठशाला बन्द कर दी गई । जस्टिनियन् के दो सौ वर्ष पहिले ही कांस्टैंटाईन के समय से रोम के साम्राज्य भर में खीष्ट मत का प्रचार हो चुका था । इस समय से शुद्ध दर्शन में श्रद्धा घटने लगी और धीरे धीरे दर्शन धर्म की सेवा में जितना उपयुक्त है उतना ही बच गया । धर्म और दर्शन का खीष्ट मतानुगामियों में कैसा प्रचार हुआ यह अब द्वितीय भाग में दिखाया जायगा ।

प्रथम भाग समाप्त ।
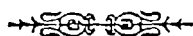
द्वितीय भाग

अर्थात्

मध्य समय का दर्शन ।

प्रथम अध्याय ।
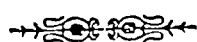
ग्रीक दर्शन का बाइब्ल के धर्म से जब समागम हुआ तो धीरे धीरे स्वतन्त्र दर्शन सर्वथा लुप्त होकर केवल धार्मिक विषयों में जितने दर्शन की अपेक्षा है उतना खीष्ट मत के प्रचारक अगस्टिन आदिकों के उपदेशों में सुरक्षित रहा।

अगस्टिन । यद्यपि प्राचीन खीष्टमतोपदेशकों में क्लिमेंट, ओरिजेन, एथेनेसियस् आदि अनेक दार्शनिक हुए तथा इस समय के दर्शन का सारांश अगस्टिन के उपदेशों से विदित हो जायगा। इसलिये अगस्टिन के पहिले के दार्शनिकों को यहां छोड़ दिया जाता है । न्युमिडिया में अगस्टिन का जन्म हुआ था। पहिली अवस्था में अनेक दुर्व्यसनों में यह लगा रहा फिर रोम आदि नगरों में घूमते घूमते दैवात् बाइब्ल के धर्म पर इसकी श्रद्धा हुई तब से धार्मिक जीवन में यह रहा। बहुत समय तक हिप्पो नामक स्थान में यह धर्मनेता (Bishop) भी रहा, वहीं इसके मुख्य ग्रन्थ लिखे गए। अपराधस्वीकार (Confessions) और दिव्यनगर (City of God) इसके प्रधान ग्रन्थ हैं।

संशयवादियों के संशय से बचने के लिये सर्वथा निश्चित कोई मूल निकाल कर वहां से दर्शन के विचारों का आरम्भ करना इसका उद्देश्य था। सभी बातों का संशय हो सकता है पर प्रमाता अर्थात् जाननेवाला मैं हूं इसमें तो कोई संदेह नहीं है। अब इस आत्मनिश्चय में चार अंश हैं- सत्ता, जीवन, संवेदन और ज्ञान। इस ज्ञान में दिव्य वस्तु

का भास होता है क्योंकि यह ज्ञान बाह्य नश्वर वस्तुओं का धर्म नहीं हो सकता। तो इस प्रकार आत्मनिश्चय के द्वारा मनुष्य अपने ज्ञान को ईश्वर से अभिन्न निश्चय कर सकता है। इसलिये आत्मविश्वास होने ही से ईश्वर में भी विश्वास अवश्य होता है। निर्गुण निरुपाधिक देशकालातीत ईश्वर सर्वथा अनिर्वचनीय है। ईश्वर को कितने लोग द्रव्य मानते है यह अनुचित है क्योंकि द्रव्य तो गुण और क्रिया का आश्रय होता है और ईश्वर निर्गुण है। ईश्वर किन वस्तुओं से भिन्न है इस प्रकार नेति नेति बताकर ईश्वर को सत्ता मात्र कहा जा सकता है। पर ईश्वर का क्या स्वरूप है यह नहीं कहा जा सकता। ख्रिष्टानुसारियों के अनुसार ईश्वर त्र्यात्मक है याने उनके तीन रूप हैं सत् चित् और आनन्द। संसार सत् और असत् दोनों से बना है अर्थात् सत्स्वरूप ईश्वर ने असत् से इसे बनाया है। मनुष्य को स्वातन्त्र्य नहीं है ईश्वर की कृपा के अधीन सब मनुष्य है। जिसपर कृपा होती है उसीका उद्धार होता है। जिसके हृदय में परमेश्वर भक्ति का प्रकाश अपनी करुणा से करते है वही श्रद्धा के द्वारा मुक्त होता है अन्यथा अश्रद्धा और नास्तिकता में पड़कर जन्तु नष्ट हो जाता है।

स्कोटस एरिजेना। अगस्टिन ने भक्तों को जो ज्ञान स्वयं प्रकाश होता है उसे बुद्धिग्राह्य और शिक्षायोग्य बनाया और उसके बाद भक्ति और ज्ञान का ऐक्यरूप अति विस्तृत दर्शन चला। स्कोटस एरिजेना (जिसके जन्म स्थान का ठीक पता नहीं है) एक ग्रीस भाषा का जानने वाला बड़ा विद्वान् था। खल्वाट चार्ल्स (Charles, the Bald) ने इसे अपने

देश फ्रांस में बुलाया और और देशों में राजाओं से इसकी मुलाक़ात थी। इसके मत से विवेक अर्थात् ज्ञान और धर्म या भक्ति एक है। जिस बात का ग्रहण भक्ति से स्वयं होता है उसीका प्रमाण ज्ञान से दिया जाता है। विवेकशक्ति सब मनुष्यों में एकरूप ईश्वर ने दी है। इसके द्वारा अर्थ और अनर्थ का सब कोई निश्चय करले सकता है। समस्त पदार्थों के चार विभाग है—१ अकार्यकारण, २ कार्यकारण, ३ कार्यअकारण, ४ अकार्य अकारण।*

ईश्वर कार्य नहीं है पर सबका कारण है। बुद्धि, प्राण, सुख आदि ईश्वर के कार्य है और वे स्वयं भी समस्त अन्य वस्तुओं के कारण है। पृथक् व्यक्ति केवल कार्य हैं, कारण नहीं। फिर समस्त संसार जहां लौट जाता है वह ईश्वर न कार्य है न कारण। इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्रथम और चतुर्थ दोनें एक ही वस्तु हैं। सृष्टिकार्य को देखा जाय तो ईश्वर प्रथम अर्थात् अकार्य कारण है और लय को देखा जाय तो अकार्य अकारण है। दुःख कोई वस्तु नहीं है, सुख के अभाव को दुःख कहते हैं। ईश्वर से वैमुख्य के कारण मनुष्य की आत्मा दुःख में पड़ी है। ईश्वर के ज्ञान से बढ़कर धर्म नहीं है। ईश्वर का ज्ञान होने ही से मनुष्य की गति हो जाती है। ईश्वर के यहां पहुंचने पर मनुष्य की आत्मा ईश्वर से मिल नहीं जाती है केवल पूर्ण ज्ञानमय होकर सुखी हो जाती है।

---

*मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥
सांख्यकारिका।

ऐन्सेलम । एरिजेना के बाद विरेंगर विलियम आदि बहुतेरे दार्शनिक हुए । पर इन सभो में नए विचारवाला ऐन्सेलम था जिसके दर्शन का प्रभाव यूरोपके दर्शन पर बड़ा भारी है । लोम्बार्डी के एक अच्छे वंश में ऐन्सेलम का जन्म हुआ । इसने धार्मिक शिक्षा समयानुसार पाई । यूरोप की प्राचीन धर्म पुस्तको मे जो तत्त्व दिए है उनको शुद्ध युक्तियों से उपपादन करना इसका मुख्य उद्देश्य था । प्लेटो ने जैसा दिखलाया है कि सामान्य प्रत्यय वास्तव है उसीके रहने से व्यक्तियों की स्थिति है वैसाही ऐन्सेल्म ने भी दिखाया है । जैसे सब गोव्यक्तियों में वर्तमान एक गोत्व है फिर गो महिष आदि में पशुत्त्व है वैसे ही जाते जाते सब से बड़ी जो सामान्य अर्थात् पूरी सत्ता है वही ईश्वर है । जितना कार्य है उसका कारण अवश्य होता है । यह कारण एक हो सकता है या अनेक । यदि एक है तो ईश्वर सिद्ध हुआ । यदि अनेक है तो तीन विकल्प हो सकते है । इन अनेक कारणों का यदि फिर एक कोई कारण है तो ईश्वर की सिद्धि हुई । या सब अनेक कारण स्वयंभू हों तो इनमें जो स्वयं होने की शक्ति है यह शक्ति एक हुई और यही ईश्वरवादियों का ईश्वर है । तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि ये अनेक कारण परस्पराधीन हों पर इस पक्ष मे अन्योन्याश्रय दोष पड़ता है इसलिये एक ईश्वर सब जगत् का कारण है यह सिद्ध हुआ । यह ईश्वर स्वयभू पारमार्थिक परासक्त पराशक्ति है ।

ईश्वर की सत्ता का मुख्य प्रमाण ऐन्सेल्म ने इस प्रकार दिया है । पूर्ण परमेश्वर का बोध मनुष्य को है तो यदि ईश्वर असत् है तो उसमें अपूर्णता आई । इसलिये पूर्ण

ईश्वर की सत्ता अवश्य है। इसी प्रमाण को Ontological argument कहते है। गासिलो आदि दार्शनिकों ने इस प्रमाण का खण्डन किया और दिखलाया कि वस्तु का बोध और वस्तु दोनों भिन्न हैं। दूध का समुद्र मनुष्य के मन में आ जाय इसलिये इसकी बाह्य सत्ता कहना जैसा उन्माद है वैसे ही ईश्वर की वास्तव सत्ता का मानस कल्पना से प्रमाण देना है।

अगस्टिन ऐन्सेल्म आदि मध्य समय के दार्शनिकों ने और बहुतसी बाते खीष्ट धर्म पर कहीं है जिनको शुद्ध दर्शन के वृत्तान्तों से कहने की आवश्यकता नहीं है।

अब सामान्य प्रत्ययों की ईश्वर आदि के उपपादन में इतनी आवश्यकता पड़ी कि दार्शनिकों में दो मत चले। कुछ लोग सामान्य प्रत्ययों को वास्तव और कुछ अवास्तव समझते थे। व्यक्तियों में गोत्व कोई एक पृथक् वस्तु है जिसके रहने के कारण सब व्यक्तियां गोशब्द से कही जाती हैं-यह एक मत था और दूसरे मत के अनुसार व्यक्तियों से पृथक् कोई जाति वस्तु नहीं है। पहिले मत को वस्तुवाद (Realism) कहते हैं, दूसरे मत को नामवाद (Nominalism) कहते है।

रोसेलिनस एक दार्शनिक था जिसके मत से जाति पृथक् वस्तु नहीं है। पर ऐन्सेल्म और विलियम के मत से जाति या सामान्य प्रत्यय पारमार्थिक वस्तु हैं।

इस झगड़े को किसी प्रकार एबेलर्ड नामक दार्शनिक ने तय किया। यह नामवादी या वस्तुवादी न था। यह मानसवादी (Conceptualist) था। इसके मत से जाति पृथक् वस्तु नहीं है। पर मानसस्थिति जाति की है। एबेलर्ड

और ह्यूगो स्वतन्त्र विचार के दार्शनिक थे। धर्म के बन्धनों मे व्यर्थ पड़ना इन्हे अभिमत नहीं था। जोही ज्ञानवान् हो उसीकी मुक्ति ये लोग मानते थे। ख्रीष्ट मत के अवलम्बन विना उद्धार नहीं होता यह इनका मत नहीं था। ह्यूगो ने समयानुसार मन की शक्तियों का भी अन्वेषण किया। इसके मत से आत्मा की तीन शक्तिया है, शारीरक, प्राणसम्बन्धी, और मानस। यकृत् मे शारीरक शक्ति है जिसके द्वारा रुधिर आदि वनते हैं। हृदय में प्राणशक्ति है जिससे रुधिर की गति नाड़ी आदि में होती है। मानसशक्ति मस्तिष्क में है जिससे ज्ञान होता है।

इस समय दार्शनिकों में वहुत से व्यर्थ प्रश्न उठे। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयत्नो में दार्शनिक अपना जीवन बिताते थे। पीटर दी लोम्वार्ड के लेखों में कुछ प्रश्न है जिनसे इस समय के दार्शनिकों की प्रवृत्ति विदित हो जायगी।

ईश्वर सृष्टि में स्वतन्त्र है या परतन्त्र। यदि स्वतन्त्र है तो सृष्टि का ज्ञान उसे पहिले से नहीं होगा, क्योंकि निश्चय ही नहीं है कि सृष्टि होगी कि नहीं। यदि पहिले से ज्ञान है तो उसीके अनुसार सृष्टि होगी तो ईश्वर परतन्त्र हुआ।

सृष्टि के पहिले ईश्वर कहां रहा क्योंकि सब स्थान तो सृष्टि ही में हैं।

ईश्वर की वर्तमान सृष्टि से उत्तम सृष्टि हो सकती है या नहीं। यदि नहीं हो सकती तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है। यदि हो सकती है तो वैसी ही उत्तम सृष्टि क्यों न बनाई गई।

देवताओं को शरीर है या नहीं। वे पाप करते हैं या नहीं। देवता या ईश्वर मनुष्यों को देख पड़ते हैं या नहीं। देख पड़ते हैं तो किस रूप में।

ऐसे ऐसे काकदन्तपरीक्षाप्राय प्रश्नों के विचार इस समय होते थे।

इन दार्शनिकों ने किसी नई बात का विचार नहीं किया। इसलिये यहां सभों के दर्शनों का विवरण न देकर इन में से मुख्य तीन दार्शनिकों का कुछ वृत्तान्त किया जाता है। ये तीन टौमस, डंस स्कोटस् और ओकम थे।

टौमस् ऐकिनस्। टौमस एक डौमिनिक संप्रदाय का साधु था। अरिस्टाटल के मत का पुनरुज्जीवन इसका मुख्य उद्देश्य था। इसके मत से भाव और अभाव दो पदार्थ हैं। गो, वृष आदि भाव हैं। दारिद्र्य आदि अभाव हैं। भाव पदार्थ के दो भेद हैं द्रव्य और आकार (Matter and form) ईश्वर शुद्ध आकार है। और सब द्रव्य और आकार दोनों मिला कर बने हैं। आकार वास्तव है और द्रव्य योग्यता मात्र है।

जितना ही अपूर्ण आकार होगा उतनी ही व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। जितनी ही पूर्णता अधिक होती है उतनी ही व्यक्ति संख्या कम होती है। ईश्वर पूर्णाकार है इसलिये वह एक है।

ईश्वर के यहां सत्ता और ज्ञान एक है। मनुष्यों में सत्ता जिस वस्तु की रहती है उसका ज्ञान होता है अर्थात् सत्ता और ज्ञान भिन्न है पर ईश्वर के यहां ये दोनों एक हैं। ईश्वर सत्यस्वरूप है इसलिये उसकी सत्ता मे किसी

को सदेह नहीं होना चाहिए। दर्शन का प्रथम कार्य है ईश्वर का उपपादन। पर यदि अवतार लेकर ईश्वर ने मनुष्यों में अपने स्वरूप को प्रकाशित नहीं किया होता तो मनुष्य की शक्ति कभी न थी कि स्वयं अपनी बुद्धि से इसे ईश्वर का पता लगे।

प्रकृति में एक द्रव्य दूसरे आकार में, फिर उस आकार से और पूर्ण आकार में पहुंचने का प्रयत्न करता रहता है। आधिभौतिक जीवन का उत्तमोत्तम रूप मनुष्य का शरीर है जिसके बाद आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है।

यह संसार प्राकृत विषयों में उत्तमोत्तम बना है। अब इससे उत्तम संसार नहीं हो सकता है। ईश्वर की कृति नित्य नियत एकरूप है, उसमें कोई बात अकस्मात् नहीं हो सकती। मनुष्य की इच्छा अच्छी ही वस्तु की ओर जाती है पर उसकी इन्द्रियां बुरी वस्तुओं की ओर जाती है इसी से पाप का आरम्भ होता है। नियति के अधीन सब है। पर नियति ईश्वरेच्छा रूप है और ईश्वर विवेकवान् है इसलिये अज्ञान अविवेक पक्षपात से कोई कार्य नहीं होता है।

डंस् स्कोटस्। डंस स्कोटस् नार्थम्बरलैण्ड का निवासी था। यह फ्रैंसिस मत का साधु था और आक्सफोर्ड आदि प्रदेशों में अध्यापक था। दर्शन शास्त्र इसके समय तक फिर धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र हो चला था यहां तक कि कितने विषयों में दोनों परस्पर विरुद्ध थे। इसके अनुसार शास्त्र प्रमाण गौण है और तर्क मुख्य है। जो मनुष्य की बुद्धि से ठीक ठीक निकले वही शास्त्रों में भी हो तो शास्त्र ठीक है। ईश्वर की इच्छा टौमस के अनुसार बुद्धि के अधीन है अर्थात

स्वतन्त्र नहीं है तो स्कोटस् के अनुसार यह बात ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि इस बात के अनुसार ईश्वर और मनुष्य सभी बुद्धि के अधीन हो जाते हैं। यदि कृतिशक्ति पराधीन है तो पाप और पुण्य का भेद असंभव है क्योंकि मनुष्य अपनी इच्छा से तो कुछ कर नहीं सकता, बुद्धि के वश होकर जो चाहे सो करता है। बुद्धि के अधीन सब होने से ईश्वर की भी स्वतन्त्रता और सर्वशक्तिमत्ता जाती रहती है। इसलिये इच्छाशक्ति स्वतन्त्र है। ईश्वर की इच्छा से सृष्टि हुई। इस सृष्टि में जिसकी जैसी इच्छा होती है वैसे कार्य होते है। यही निश्चय रखना चाहिए।

ओकम। ओकम डंस स्कोटस् का अनुगामी था। यह पक्का नामवादी है। जाति को कितने लोग पृथक् वस्तु मानते हैं पर जाति यदि पृथक् कोई वस्तु होती तो एक काल में अनेक व्यक्तियो में अर्थात् अनेक स्थानों में कैसे रहती। इसलिये ओकम के अनुसार जाति केवल सदृश अनेक व्यक्ति-गतधर्मों के समुदाय का नाम मात्र है। व्यक्तियों से पृथक् कोई वस्तु नहीं है।

यदि जाति कोई वस्तु नहीं है तो किसी शास्त्र का भी संभव नहीं है क्योंकि व्यक्तियों से शास्त्रों को सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक शास्त्र अपने विषय के व्यक्तियों मे सामान्य धर्म क्या है इसी बात को बतलाता है। तो यदि सामान्य धर्म कोई वस्तु नहीं है तो उस विषय के शास्त्र भी असंगत हैं। धर्म और भक्ति ये ही मनुष्य के उद्देश्य है और किसी बात की स्थिरता नहीं।
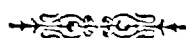
द्वितीय अध्याय।
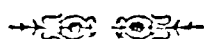
अब सोलहवीं शताब्दी में मध्य समय के शुष्क दर्शन से लोगों की श्रद्धा घटने लगी। राजर बेकन ने उत्प्रेक्षाओं से और कल्पनाओं से मनुष्य के चित्त को हटाकर प्रत्यक्ष मूलक उपयोगी विज्ञानों में पहिले ही से लगाया था। इधर इटली में प्राचीन विद्याओं का विशेषतः ग्रीक भाषा के ग्रन्थो का अभ्यास आरम्भ हुआ। इससे भी मध्य समय के सूखे तर्कों से मनुष्य का चित्त हटा। गैलीलियो कोपर्निकस, आदि ज्यौतिषिकों ने पृथ्वी की गति, अन्य ग्रहों की गति आदि जो स्थिर की उससे पदार्थ विज्ञान की ओर मनुष्यों की श्रद्धा बढ़ी *। अन्ततः इटली में ब्रूनो, इङ्गलैण्ड में फ्रेंसिस बेकन, और फ्रांस में डेकार्ट ने नवीन दर्शन का आरम्भ किया।

ब्रूनो। जायोर्डेना ब्रूनो नेप्ल का निवासी था। डोमिनिक मत का साधु होकर यह देश देश घूमता फिरता, अन्तमें वेनिस नगर में धर्म परीक्षा सभा (Inquisition) की आज्ञा से यह कैद किया गया और जीता ही जला दिया गया।

ब्रूनो ने सूर्यकेन्द्रक ज्योतिष का अनुसरण किया। नक्षत्रों को यह अनेक सूर्य समझता था। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर

---

* जैकब बीम आदि का देवबुद्धि (Thesophy) दर्शन में ऐसा आवश्यक नहीं है इसलिये उसका वृत्तान्त यहां नहीं दिया है।

चलती है और ग्रहों में से एक है। संसार अनन्त है। इसमें असंख्य सूर्य हैं। दो अनन्त वस्तुओं की स्थिति नहीं हो सकती क्योंकि एक दूसरे से अलग होगी तो परस्पर दोनों का अन्त अवश्य ही रहेगा। संसार अनन्त है। और ईश्वर को भी लोग अनन्त कहते हैं। इसलिये ईश्वर संसार से अभिन्न है। संसार का उपपादन कारण (Immanent Cause) ईश्वर है। जैसे मृत्तिका और घट अभिन्न है वैसे ही संसार और ईश्वर अभिन्न हैं। ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् है। उत्पत्ति और नाश आपेक्षिक वस्तुएं हैं। सर्वथा न किसी नई चीज़ की उत्पत्ति है और न किसी वस्तु का सर्वथा नाश है। केवल सब वस्तुओं का अवस्थान्तर में परिणाम होता रहता है जिससे उत्पत्ति और नाश देखनेवालों को मालूम पड़ता है। मूर्त और अमूर्त का भेद वास्तव नहीं है। एक ही वस्तु छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी हो सकती है। बीज से धान्य का वृक्ष, वृक्ष से अन्न, अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से वीर्य, वीर्य से गर्भ, गर्भ से शरीर, शरीर से मिट्टी होती है। फिर भी मिट्टी से बीज आदि क्रम से शरीर होता है। इसलिये वास्तव द्रव्य जो सब परिणाम में रहते भी एक है वह न मूर्त है न अमूर्त है, वह कुछ अनिर्वचनीय है जिसके नाना रूप हो सकते हैं। संसार मे सभी वस्तुओं मे एक प्रत्यक्ष शरीरांश है और कारण शक्ति अर्थात् आत्मा का अंश है। संपूर्ण संसार एक शरीर है जिसकी आत्मा ईश्वर है। इस संसार मे असंख्य वस्तुएं शक्तिकेन्द्र स्वरूप (Monads) वर्तमान है। ये शक्तिकेन्द्र सभी सजीव है। प्रत्येक केन्द्र मे आन्तर और बाह्य अर्थात् संकोच और प्रसार रूप दो शक्तियां

है। प्राण शक्ति के द्वारा शरीर दृश्य होता है मनोज शक्ति से शक्तिकेन्द्र अपने ही अमूर्त रूप में रहता हुआ ज्ञानमय जीवन बिताता है।

कैम्पेनेला। इटली का दूसरा दार्शनिक इस समय कैम्पेनेला नाम का हुआ। रोमन कैथेलिक धर्म के अधिष्ठाता पोप महाशय के अत्याचारों से कोई स्वतन्त्र विचार का पुरुष इस समय निर्भय नहीं रह सकता था। सत्ताइस बरस तक भयानक कैद भोग कर कैम्पेनेला नेप्लस मे मरा।

कैम्पेनेला के मत से जब तक ज्ञान शक्ति की परीक्षा न करली जाय तब तक किसी दार्शनिक सिद्धान्त को प्रकाश करना उचित नहीं है। ज्ञान के मूल दो है प्रत्यक्ष और तर्क अर्थात् बाह्य ज्ञान और आन्तर ज्ञान। बाह्य ज्ञान से जो वस्तु विदित होती है वह वास्तव नहीं है जैसा कि ग्रीक के संशयवादियों ने दिखाया है क्योंकि वस्तुतः बाह्य पदार्थ हमारीही इन्द्रियों में जो परिवर्तन होते है उनके समूहरूप हैं। तथापि तर्क से अर्थात् आन्तर ज्ञान से बाह्य वस्तु की स्थिति जान पड़ती है। आन्तर ज्ञान ज्ञाता और ज्ञाता से पृथक् ज्ञेय अर्थात् अहम् और इदम् दोनों का पृथक् भान होता है। जिस बाह्य वस्तु का भान स्वाभाविक सभी को होता है उसका यदि प्रमाण पूछा जाय तो बाह्येन्द्रियजन्य ज्ञान से उसका उपपादन नहीं हो सकता है किन्तु आन्तर ज्ञान से बाह्य वस्तु की स्थिति का प्रमाण दिया जा सकता है। क्योंकि ज्ञाता कहां तक स्वतन्त्र है और किन विषयों में बाह्य वस्तुओं के अधीन है यह उसे स्वयं ज्ञात है पर इस आन्तर ज्ञान से भी वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है क्योंकि

ज्ञान की श्रेणियां हैं । ईश्वर का ज्ञान सर्वथा पूर्ण है । औरों का ज्ञान अपूर्ण है । पूर्ण ज्ञान की ओर लेजाना ही दर्शन का उद्देश्य है ।

शक्ति ज्ञान और प्रवृत्ति (सत् चित् अनन्द) ये तीन संसार की स्थिति के मूल हैं । संसार के आविर्भाव होने के लिये जिस वस्तु से आविर्भाव हुआ उसमें शक्ति अर्थात् सत्ता, जिसे उत्पन्न करना है उसका बोध अर्थात् चिति और उत्पत्ति की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पादन मे आनन्द इन तीनों की आवश्यकता है । इसलिये सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर है जिसमें संसार की उत्पत्ति स्थिति और लय है । इसीलिये थोड़ी बहुत सत्ता ज्ञान और आनन्द निर्जीव सजीव सभी में अवस्थानुरूप वर्तमान है । असत्ता अज्ञान और दुःख से भय सत्ता ज्ञान और अनेक से प्रीति सजीव निर्जीव सबमें स्वाभाविक है । इसीसे सब की स्थिति है । यही धर्म है । सच्चिदानन्द की ओर प्रवृत्ति समस्त संसार की है इसीको धर्म कहते हैं ।

इधर इटली में कोपर्निकस आदि वैज्ञानिकों ने टौलेमी का भूकेन्द्रक ज्यौतिष नष्ट कर नया सूर्यकेन्द्रक ज्यौतिष सिद्धान्तित किया और दार्शनिक लोग ब्रूनो, कैम्पेनेला, गैसेंडी आदि प्लेटो अरिस्टाट्ल आदि के प्राचीन दर्शनों का सारांश लेकर मध्य समय के सूखे दर्शनों की जड़ खोद रहे थे, उधर इङ्गलैण्ड में वेकन और हौब्स और फ्रांस मे डेकार्ट बड़े स्वतन्त्र विचार के दार्शनिक हुए जिनके विचारों ने नए दर्शन का पूर्ण समारोह से अरम्भ किया ।

फ्रैंसिस् वेकन। इङ्गलेण्ड में सूखी दार्शनिक कल्पनाओं में श्रद्धा कभी अधिक न थी, तेरहवीं सदी में भी राजर वेकन अपने समय का बड़ा वैज्ञानिक था। सोलहवीं सदी में फ्रैंसिस वेकन तार्किक वैज्ञानिक और गद्यकवि हुआ। यह बहुत काल तक आंग्लशासकों के यहां प्रतिष्ठित पदों पर था पीछे अप्रतिष्ठा के कारण इसे पद छोड़ना पड़ा। अरिस्टाटल ने अनुमानप्रधान तर्कशास्त्र (Logic) लिखा था, जिसमें निश्चित व्याप्तियों से अनेक विशेष निर्णय होसकते थे। सब मनुष्य मरते हैं यह ज्ञान होने से साक्रटीज़ यदि मनुष्य था तो अवश्य मर्त्य था यह जानना सुलभ है। पर व्याप्ति-ग्रह (Induction) के क्या उपाय हैं इस विषय पर अभी तक बहुत कम दृष्टि दीगई थी। अब अनुभव और परीक्षा (Observation and Experiment) के द्वारा व्याप्तिग्रह का साधन और उपपादन ये मुख्य उद्देश्य वेकन के थे। वेकन के नए तर्कशास्त्र (Novum Organum) में पहिले पहल परीक्षाप्रधान तर्क का प्रचार हुआ।

पुस्तकों के निरीक्षण से प्राचीनों का अनुकरण करने से और मन की कल्पनाओं से किसी बात का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। आलस्य के कारण भाग्य मान कर संतोष करना सुन्दरता की दृष्टि से स्वर्ग अमृत आदि की कल्पना कर मन को बहलाना आदि वैज्ञानिक या दार्शनिकों का कार्य नहीं है।

मनुष्य के मन की तीन शक्तियां हैं—स्मृति, कल्पना, और वास्तव ज्ञान। स्मृति के अधीन ऐतिहासिक शास्त्र हैं। कल्पना के अधीन कविता के विषय है। ज्ञान के अधीन

दर्शन है जिसके तीन विभाग हैं—धर्मशास्त्र, प्रकृतिशास्त्र, और नरशास्त्र। देवता आदि के विषय धर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं। वैज्ञानिक विषय प्रकृति शास्त्र में हैं और मनःशास्त्र आदि नरशास्त्र के विषय हैं।

उपदेशों के ऊपर विश्वास न रख कर एक नियम के लिये धीरे धीरे अनेक प्रकार के उदाहरणों की परीक्षा कर उस नियम की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। परीक्षा के अविषय जो वस्तु हैं उनके पीछे कभी नहीं पड़ना चाहिए। व्यर्थ सृष्टि स्वर्ग नरक आदि वस्तुओं की कल्पना करने बैठना और देव, देवदूत आदि के भरोसे रह कर अपना उद्योग छोड़ना मनुष्य के अज्ञान के फल हैं। जिन वस्तुओं में स्वतन्त्र विचार होसके उन्हीं वस्तुओं का अन्वेषण करना चाहिए।

हौब्स। बेकन के कुछ समय बाद इङ्गलैण्ड में हौब्स नामक दार्शनिक हुआ। यह नीति और आचार के विषयों का लेखक था।

कार्य से कारण का और कारण से कार्य का ज्ञान दर्शन का मुख्य कार्य है। यह उद्देश्य शुद्ध विचार करने से सिद्ध हो सकता है। विचार करना प्रत्ययों को जोड़ने और घटाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये उन्हीं वस्तुओं का विचार हो सकता है जो सावयव अर्थात् मूर्त हैं। क्योंकि इन्हीं के अंशो का जोड़ना घटाना हो सकता है। जो निरवयव अमूर्त वस्तु है जैसे कि देव, देवदूत, आत्मा, ईश्वर आदि वे दर्शन के विषय नहीं हैं। उनका ज्ञान भी नहीं हो सकता है। वे भक्ति शास्त्र के विषय हैं। दार्शनिकों को चाहिए

कि भक्तो के लिये इन विषयों को छोड दें, स्वयं केवल मूर्त वस्तुओं में कार्य-कारण-भाव की परीक्षा करें । परीक्षा के अविषय जो वस्तु हैं उनका ज्ञान असंभाव्य है । संसार में दो प्रकार के पदार्थ है—अकृत्रिम या प्राकृत और कृत्रिम या मानवाधीन । तर्कशास्त्र, पदार्थविज्ञान आदि के विषय अकृत्रिम है । आचार नीति आदि कृत्रिम विषय हैं जो मनुष्य के अधीन हैं। संवेदन (feeling) के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। इन्द्रियों में जो परिणाम होता है उसीके अनुभव को संवेदन कहते हैं । स्मृति के द्वारा सब विचार होते हैं और स्मृति संवेदन का सातत्यरूप है । संवेदन में न कुछ इन्द्रियों से बाहर निकलकर बाह्य वस्तुओं में जाता है, न बाह्य वस्तुओं से कोई प्रतिविम्ब निकल कर इन्द्रियों में आता है । इन्द्रिय परमाणुओं में परिणाम उत्पन्न होता है, जो नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है । इसीसे संवेदन होता है । शब्द रूप रस आदि केवल इन्द्रिय विकार हैं । इन्द्रियों में आघात होता है, वही आघात प्रभा आदि के रूप में देख पड़ता है । प्रभा आदि कोई बाह्य वस्तु नहीं है । स्वनिष्ठ परिणामों को बाह्य करके दिखलाना इन्द्रियों का भ्रम है। केवल इन ऐन्द्रियक आघातों का कारण कुछ द्रव्य है, इतना ही कह सकते हैं । उस द्रव्य मे रूप रस आदि समझना केवल भ्रम है । केवल मस्तिष्क के परिणामों को आत्मा कहते हैं । अमूर्त आत्मा कोई पृथक् नहीं है ।

मनुष्य और पशुओं में केवल श्रेणी का भेद है। वस्तुतः दोनों ही काम क्रोध आदि के अधीन हैं। दोनों ही प्रिय वस्तु की ओर जाते हैं और अप्रिय वस्तु से हटते हैं । पूर्ण

कारण सामग्री (Sufficient Reason) जिस बात को आपहुंचती है वह अवश्य होती है, उसे मनुष्य रोक नहीं सकता है। अच्छा और बुरा कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिसे जो अच्छा लगे सो अच्छा, जिसे जो बुरा लगे सो बुरा। मनुष्यों ने अपनी रक्षा के लिये राजा बनाया है। उसे अपना स्वातन्त्र्य समर्पण कर दिया है। नहीं तो दुर्बल को बली रहने न देता।

इस प्रकार ब्रूनो आदि दार्शनिकों ने नए विचारों का आरम्भ किया, जिन विचारों का पूर्ण विकास डेकार्ट आदि के ग्रन्थों में हुआ जैसा कि तृतीय भाग में दिखाया जायगा।

द्वितीय भाग समाप्त।

तृतीय भाग

अर्थात्

आधुनिक समय का दर्शन ।

प्रथम अध्याय ।
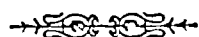
डेकार्ट । फ्रांस देश का विख्यात दार्शनिक और गणितज्ञ डेकार्ट ट्रेन प्रान्त के हे नामक नगर मे उत्पन्न हुआ। जर्मनी आदि प्रदेशो मे इसने कई युद्ध भी किए थे। दर्शन पर "चिन्तन" (Meditationes) आदि अनेक ग्रन्थ इसने लिखे । स्विडेन देश की रानी क्रिस्टिना इस विद्वान को बहुत मानती थी । उसके बुलाने पर यह स्विडेन गया। वहीं इसका देहान्त हुआ। नवीन रेखागणित में इसने बहुत से तत्त्वों का अन्वेषण किया और अपने समय के गणितज्ञों में इसने बड़ी प्रतिष्ठा पाई थी । रेखागणित की रीति से दार्शनिक तत्त्वों का अन्वेषण करना इसका मुख्य कार्य था । रेखागणित में जैसे स्वयंसिद्ध प्रमाणनिरपेक्ष जनप्रसिद्ध थोड़ी सी बातों से अनुमान के द्वारा बड़े बड़े तत्त्व सिद्ध किए जा सकते हैं वैसे ही मनुष्य के चित्त मे ज्ञान के जो स्पष्ट निर्विवाद अंश हैं उनकी परीक्षा कर उनसे ईश्वर आदि बड़ी बातो का एक व्याप्तिग्रह के अनन्तर दूसरा व्याप्तिग्रह करते हुए साधन करना ही डेकार्ट के दर्शन का मुख्य उद्देश्य है । मनुष्य के शरीर का विज्ञान भी डेकार्ट को यथासभव परिचित था । इससे प्रत्यक्षानुभव से ज्ञान का कैसा सम्बन्ध है और शरीर पर मन का कार्य कहां तक निर्भर है इत्यादि विषयों का विचार यह अच्छी तरह कर सकता था । इसलिये मानस विज्ञान की रीति (Psychological Method) और वैज्ञानिक रीति (Positive Method) का भी डेकार्ट आरम्भक समझा जाता है।

मनुष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाणों के अधीन है। शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक ही है क्योंकि कहनेवाला प्रत्यक्षानुभूत ही बातको कहेगा, नहीं तो उसकी बात यदि निर्मूल हो तो कोई विश्वास नहीं करेगा। तो यदि सभी ज्ञान प्रत्यक्षमूलक है और संशयवादियों के तर्कों से और अपने अनुभव से भी यह देखा जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान विश्वास के योग्य नहीं है और एक ही प्रकार की वस्तु को भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न रूप की दिखलाता है तब किसी वस्तु का विश्वास करना उचित नहीं है। पर पीरो आदि दार्शनिकों ने जैसे इसी संशय पर विश्राम किया वैसे ही संशय तक रह जाना उचित नहीं है। यदि यह निश्चय हुआ कि मुझे संशय है तो यह भी निश्चय है कि मै सोचता हूं क्योंकि संशय करना एक प्रकार का सोच या विचार है। पर जो वस्तु है ही नहीं वह कैसे कुछ विचार कर सकती है। इसलिये यदि मैं विचार करता हूं तो मै अवश्य हूं। इससे यह निःसदेह सिद्ध हुआ कि मै हूं। "मै सोचता हूं इसलिये मैं हूं" (Cogito ergo sum) यही पहिला प्रतिपाद्य डेकार्ट का है। अगस्टिन ने भी यही प्रतिपादन किया था पर डेकार्ट की रीति इस प्रतिपादन की कुछ विलक्षण और नए ढङ्ग की है। "मैं सोचता हूं इसलिये मैं हूं" यह कोई अनुमान नहीं है। यह तो स्वयंसिद्ध है। इसका केवल विवरण हो सकता है, कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार जब यह स्वयसिद्ध है कि मैं हूं तो ऐसे ही स्पष्ट रूप से जो कुछ मेरे विचार में हो या जो इस प्रतिपाद्य से निकले उसके अतिरिक्त और किसी बात का विश्वास नहीं

करना चाहिए। बाह्य वस्तुओं की स्थिति स्पष्ट नहीं विदित होती क्योंकि तारों का छोटा सा होना, उनका उदय अस्त इत्यादि जैसे पृथ्वी की गति से और हम लोगों के अत्यन्त दूर रहने से जान पड़ता है। वस्तुतः तारों का परिमाण गति आदि वैसा नहीं है जैसा दीख पड़ता है। इसी प्रकार बाह्य वस्तु मात्र केवल भ्रम हो सकती है और बाह्य वस्तुओं में पहिले ही विश्वास कर लेना उचित नहीं है। पहिले पहल आत्मस्थिति के अतिरिक्त और कोई बात निश्चित नहीं जान पड़ती।

पर एक ज्ञान कुछ ऐसा विलक्षण है जो कि आत्मातिरिक्त वस्तु का साधक है। मनुष्य को ईश्वर की स्थिति में विश्वास है। यह विश्वास कहां से आया। यदि कहें कि बाह्य वस्तुओं के सदृश ईश्वर भी मन की कल्पना या भ्रम है तो ठीक नहीं, क्योंकि अनन्त अपरिछिन्न पूर्ण परमेश्वर की कल्पना सान्त परिछिन्न और अपूर्ण मन कैसे कर सकता है। यदि यह कहे कि मन में अशर्फियों की कल्पना होने से वस्तुतः अशर्फियां आ नहीं जातीं वैसेही मन में ईश्वर की कल्पना होने से वस्तुतः ईश्वर है या नहीं कैसे जान पड़े तो यह भी परीक्षा से कुतर्क ही ज्ञात होता है क्योंकि ईश्वर पूर्ण है ऐसा हम लोगों का ज्ञान है और पूर्णता में सत्ता अन्तर्गत है। यदि मनुष्य को जिस ईश्वर का ज्ञान है वह असत् हो तो दूसरी सत् वस्तु उससे अधिक पूर्ण और उत्तम समझी जासकती है। पर ईश्वर शब्द का तो अर्थ ही सत् और पूर्ण है इसलिये सत् और पूर्ण का ज्ञान होने से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हुई यह कहना कुतर्क मात्र है। ऐन्सेल्म ने भी

यह बात दिखलाई है पर उनके मत मे हमारे ज्ञान के अधीन ईश्वर की स्थिति है और डेकार्ट के मत से ईश्वर की स्थिति के कारण हमे ईश्वर का ज्ञान है, यही दोनो मतो मे भेद है।

अव इस प्रकार मै हूं और ईश्वर है इन दो वातों के सिद्ध होने पर तीसरी वात एक और भी स्पष्ट सिद्ध होती है कि "संसार मूर्त है"। ईश्वर ने हमें वस्तुओं का अनुभव दिया है। यदि किसी भूत प्रेत ने संसार की स्थिति का विश्वास हमारे मन में दिया होता तो उस विश्वास को माया वा भ्रम कह सकते। पर पूर्ण परमात्मा जो स्वयं सद्रूप है वह हमें भ्रमात्मक वस्तुओं में वास्तवता दिखलाकर वञ्चित करे यह कब संभव है। वञ्चना करना पूर्ण परमात्मा का धर्म कभी नहीं हो सकता क्योंकि वञ्चना अपूर्णता का लक्षण है।

इन तीन वस्तुओं मे (जो ऊपर सिद्ध हुई है) ईश्वर स्वतन्त्र वस्तु है। आत्मा और संसार भी गुणाश्रय हैं इसलिये वस्तु कहे जा सकते हैं पर उनकी स्थिति स्वतन्त्र नहीं है, ईश्वर के अधीन है। आत्मा का गुण ज्ञान है और बाह्य वस्तु मात्र (संसार) का गुण विस्तार (Extension) है। संसार का धर्म विस्तार है, इसलिये शून्य और अणु आदि परिमाणहीन वस्तुएं अभावरूप है। इनकी स्थिति नहीं माननी चाहिए। इसी प्रकार विस्तार का अन्त अचिन्तनीय है इसलिये संसार का भी प्रदेश मे परिच्छेद नहीं है। संसार अनन्त और निष्केन्द्र है और इसकी गति उत्केन्द्रक और केन्द्रापिगामिनी (Eccentric Centrifugal) है। विस्तार के कारण वस्तुओं में गति होती है। सब प्रकार की गतियों का

कारण स्थानपरिवर्तन है। अब यह गति कहां से हुई इस बात का यदि अन्वेषण करें तो देखते हैं कि अणु से अणु प्रश सब मूर्त पदार्थों का विस्तृत मात्र है। उनमें आत्मा के सदृश कोई गति देनेवाली वस्तु भीतर नहीं है। इसलिये किसी बाह्य कारण से उनमें गति है ऐसा अनुमान होता है। इसलिये यह संसार एक यन्त्र सा है जिसमे प्रथम गति ईश्वर ने उत्पन्न की और उसी गति से यह चल रहा है।

ज्ञाता और ज्ञेय अर्थात् आत्मा और मूर्त पदार्थों में सर्वथा भेद है। आत्मा सर्वथा निराकार है और बाह्य वस्तु सब साकार हैं। न शरीर में वस्तुतः आत्मा है और न आत्मा को शरीर है। शरीर नियति के अधीन है और आत्मा स्वतन्त्र है। वस्तुतः आत्मा और शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा किसी किसी ग्रन्थों में डेकार्ट ने लिखा है। पर अन्य स्थानों में उसने लिखा है कि आत्मा शरीर-व्यापिनी है और विशेषतः ब्रह्मरन्ध्र या मस्तिष्करन्ध्र (Pineal gland) से सम्बन्ध रखती है। आत्मा की चिन्ताओं से पहिले इसी रन्ध्र में गति उत्पन्न होती है। फिर यह गति समस्त शरीर मे प्राणों के द्वारा फैलती है। पहिली दृष्टि से इन दोनों बातो में विरोध जान पड़ता है पर डेकार्ट ने इस विरोध के परिहार के लिये यह कहा है कि शारीरक और आत्मसम्बन्धी व्यापारों में केवल कालिक सम्बन्ध है, अर्थात् शरीर के दबने आदि से आत्मा में सुख दुःख और आत्मा की चिन्ताओं से शरीर की दुर्बलता आदि उत्तर काल से होती है इतना ही है। शारीरक और आत्मसम्बन्धी विषयो मे कार्य-कारण-भाव नहीं है। इसके अतिरिक्त यह

भी कहा जा सकता है कि बाह्य वस्तुओ से आत्मा को सुख दुःख नहीं होते किंतु उन वस्तुओं के ज्ञान से। और वस्तु और वस्तुज्ञान दोनो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं इसलिये वस्तुतः आत्मा और बाह्य वस्तु अत्यन्त भिन्न और परस्पर असबद्ध है ऐसाही मानना उचित है।

इस प्रकार डेकार्ट ने शब्द प्रमाण के ऊपर विश्वास का खण्डन कर युक्ति और तर्क का प्रमाण स्थापन किया। इसके मत पर धर्मवादियो की ओर से बड़े बडे विरोध चले तथापि इसके लेख ऐसे युक्तियुक्त और हृदयग्राही थे कि बहुत लोगों ने इसका अनुसरण किया। डेकार्ट के अनुगामियों में मुख्य मेलेब्रांश और ज्यूलिंक थे। डेकार्ट के दर्शन पर दो प्रश्न उठे। एक प्रश्न तो यह था कि आत्मा और शरीर या ज्ञाता और ज्ञेय यदि परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं तो उनमें क्या संबन्ध है कि जिससे आत्मा को शारीरक विषयों का ज्ञान होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि जीवात्मा को ईश्वर से क्या संबन्ध है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् है तो जीवात्मा स्वतन्त्र है या नहीं।

मेलेब्रांश और ज्यूलिंक के मत से जब जब शरीर पर असर होने से आत्मा को संवेदन या सुख दुःख आदि होते हैं और जब जब आत्मा की कृतिशक्ति से शरीर हिलता चलता है तब तब आत्मा और शरीर के बीच में पडकर ईश्वर कार्य करता है। आत्मसंवेदन का शरीर और शारीरक गति का आत्मा केवल समय समय पर सहकारी कारण (Occasional Causes) है वस्तुतः इस संवेदन और गति दोनों ही का कारण ईश्वर है। इसलिये इन दार्शनिकों का मत अवसर-

वाद (Occasionalism) कहा जाता है। सेलेब्रांश कहता है कि ईश्वर ही हम लोगों के सब कार्यों का कर्ता और ज्यूलिंक कहता है कि ईश्वर ही हम लोगों के ज्ञान का वास्तव ज्ञाता है। इन दोनो बातो को मिला दिया जाय तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ही वास्तव कर्ता और ज्ञाता है। जीव केवल काल्पनिक ज्ञाता और कर्ता समझा जाता है। जीव जब किसी वस्तु को देखता है तो उसका उस बाह्य वस्तु से संबन्ध नहीं समझना चाहिए। वह (जीव) स्वयं ईश्वर का विशेष रूप है और ईश्वर में वर्तमान जो सब वस्तुओं का आदर्श है उन्हे वह देखता है। बाह्य वस्तुओं का देखना भ्रम मात्र है। इस प्रकार जब ईश्वर ही कर्ता और ज्ञात है तो जीव की कृतिशक्ति में पृथक् स्वतन्त्रता भी भ्रम मात्र है। वस्तुतः जीव ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता।

स्पाइनोज़ा। वरूच स्पाइनोज़ा का जन्म ऐमस्टर्डम नगर मे हुआ। यह यहूदी वंश का था। धर्म ग्रन्थों के अभ्यास करने के वाद इसने स्वतन्त्र दार्शनिक विचार आरम्भ किया जिससे इसके धर्मवालो ने इसे अपनी जाति से निकाल दिया। कई नगरों मे घूमते घूमते अन्ततः इसने हेग नगर में अपनी स्थिति की। स्वतन्त्रता के लिये इसने मिलने पर भी अध्यापक का पद नही स्वीकार किया और दूर्वीन आदि यन्त्रों के लिये दर्पण वनाकर वेचने से अपने जीवन का निर्वाह किया। वही दीन हीन दशा मे प्रायः ४५ वर्ष की अवस्था में स्पाइनोज़ा मरा। इसने वहुत से ग्रन्थ लिखे उनमें सबसे

उत्तम 'रेखागणित की रीति से आचार का निरूपण' (Ethica More Geometrica Demonstrata) नाम का ग्रन्थ समझा जाता है।

डेकार्ट के मत में जो विरोधाभास थे उनको हटाकर तर्क से अविरुद्ध एक दर्शन का प्रचार करना स्पाइनोजा का मुख्य उद्देश्य था। जैसे रेखागणित में थोड़ी सी परिभाषाओं से बड़े बड़े साध्य उपपादित होते हैं वैसे ही तीन मुख्य परिभाषाओं से दार्शनिक विषयों का उपपादन स्पाइनोज़ा ने किया है। (१) द्रव्य उसे कहते हैं जो स्वतन्त्र अर्थात् विना और किसी वस्तु की सहायता से विचारों में आसके। (२) धर्म उसे कहते है जिसके रहने के कारण द्रव्य अपने स्वरूप पर रहता है। (३) प्रकार वह है जो किसी द्रव्य का अवस्थान्तर हो अर्थात् विना द्रव्य के समझ में न आसके। डेकार्ट ने भी वस्तुतः निरपेक्ष द्रव्य एक ही ईश्वर को माना था पर सापेक्ष द्रव्य से उसने जीव और मूर्त पदार्थों को समझा था। इस प्रकार द्रव्य के सापेक्ष और निरपेक्ष दो भेद न मान कर शुद्ध निरपेक्ष ही द्रव्य मानना उचित है, क्योंकि निरपेक्षता ही द्रव्य का लक्षण है। इसलिये वस्तुतः एक ही द्रव्य है जो कि स्वयभू अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है, क्योंकि यदि वह किसी दूसरी वस्तु से उत्पन्न, किसी वस्तु से घिरा हुआ, या किसी के साथ रहता तो विना उस द्वितीय वस्तु के उस का बोध न होता और सापेक्ष होने से उसकी द्रव्यता जाती रहती। इस स्वयभू अपरिच्छिन्न अद्वितीय द्रव्य के नाम में कोई विवाद नहीं है। जो चाहे इसे कहे पर सामान्यतः ईश्वर शब्द से इसका बोध होता है। यह द्रव्य स्वतन्त्र है क्योंकि इसको दूसरे की अपेक्षा नहीं है पर अपने ही

नियम या नियति के अधीन अवश्य है। ईश्वर का स्वातन्त्र्य यही है कि वह किसी दूसरे के नियमों के अधीन नहीं है। जो वस्तु स्वतन्त्र है उसके कार्यों में आकस्मिकता और अन्य सापेक्षता दोनों ही सम्भव नहीं। इसलिये अकस्मात् जो चाहे कर बैठना इसका नाम स्वातन्त्र्य नहीं समझना चाहिए। ईश्वर शाश्वत स्वतन्त्र और सद्रूप है। तार्किक और धार्मिकों ने जैसे इच्छा-ज्ञान-आदि-विशिष्ट व्यक्तिविशेष को ईश्वर समझ रक्खा है वैसा वह नहीं है क्योंकि ईश्वर तो सर्वगत जो सामान्य सत्ता है वही है। उसे इच्छादिविशिष्ट पुरुष मानना तो उसे परिच्छिन्न और अस्वतन्त्र बना देना है। ईश्वर संसार का कारण है पर उसकी कारणता सामान्य कारणता के सदृश नहीं है। जिस प्रकार माधुर्य श्वेतता आदि का कारण दूध है या वस्त्र का कारण तन्तु है वैसे ही जगत् का कारण ईश्वर है अर्थात् ईश्वर का विवर्त न कि ईश्वर की सृष्टि यह जगत् है। ईश्वर जगत् का क्षणिक या बाह्य कारण नहीं है किंतु ईश्वर वह उपादान और वास्तव सत्ता है जो संसार में व्याप्त है।

ईश्वर के अनन्त अपरिमित धर्म हैं जिनमें से दो मनुष्य के ज्ञानगोचर हैं, एक तो विस्तार या आकार और दूसरा ज्ञान। पर यह विस्तार और ज्ञान जिसके कारण ईश्वर जीवरूप और बाह्य-पदार्थ-रूप जान पड़ता है केवल मनुष्य की कल्पनाएं हैं। वस्तुतः ईश्वर निर्गुण और निरुपाधिक है। मनुष्य की बुद्धि में इच्छा द्वेषादि गुणों को प्रकाश करता हुआ कभी प्रमाता स्वरूप और कभी साकार मूर्तपदार्थरूप ईश्वर देख पड़ता है। वस्तुतः उसके भिन्न भिन्न

स्वरूप नहीं है । इसी प्रकार ईश्वर सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान अनन्त है । पर उसका ज्ञान मनुष्य के ज्ञान के सदृश प्रत्यक्षादि के अधीन और अहंकारमूलक नहीं क्योंकि उसके यहां अहं और पर का तो भेद ही नहीं है। इसीलिये अनन्त ज्ञानमय होने पर भी प्रत्यक्षादि बाह्य वस्तुसापेक्ष ज्ञान विशिष्ट अहंकारपरतन्त्र ईश्वर नहीं है किंतु शुद्ध स्वतन्त्र ज्ञान स्वरूप है ऐसा समझना चाहिए । जीव शरीर दोनो एक ही वस्तु के विवर्त हैं इसीलिये शरीर का असर जीव पर होने से संवेदन होता है और जीव की कृतिशक्ति से शरीर हिलता चलता है । इसी मत को शरीरात्म सहपरिवर्तिता (Psycho-physical Parallelism) कहते हैं ।

गति और स्थिति आकार के रूपान्तर या परिवर्तन हैं और बुद्धि और कृति ज्ञान के रूपान्तर हैं । गति और स्थिति बुद्धि और कृति इन्हीं चारों से ज्ञाता और ज्ञेयस्वरूप समस्त संसार बना है । ये चारों स्वयं नित्य अनादि अनन्त हैं पर तत्तत् व्यक्तियों में जो इनके विशेष रूप देख पड़ते हैं उन्हींका परिवर्तन हुआ करता है । अब यहां पर एक और विरोध पड़ता है । यदि द्रव्य नित्य और अपरिणामी है तो परिवर्तन किसका होता है। इस शङ्का का समाधान स्पाइनोज़ा ने नहीं किया है । आत्मा और शरीर दोनो समपरिवर्ती और सहचारी हैं इसलिये प्रत्येक शरीर के लिये आत्मा और प्रत्येक आत्मा के लिये शरीर है । प्राणियों के शरीर में संवेदन होता है। संवेदन शरीर का धर्म है । पर प्रत्यक्ष मन का धर्म है । जैसे ही शरीर मे उत्तेजना होती है उसी समय ठीक उसी आकार का प्रत्यक्षानुभव मन में होता है । जो

प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं होते वे भ्रमात्मक भूत पिशाच आदि दृश्यों का रूयाल कराते हैं। पर स्पष्ट ज्ञान के द्वारा वस्तुस्थिति यथावत् विदित होती है। जैसे प्रभा अपने को और दूसरी वस्तुओं को भी ग्रहण कराती है वैसे ही वास्तव ज्ञान अर्थात् प्रभा स्वयं प्रमाण है। उसके बोध के लिये दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। भ्रममय कल्पना से मनुष्य ईश्वर आदि को भी अपने ही सा मूर्तियुक्त देखता है और अपने ही को सब वस्तुओं का केन्द्र मानता है। पर शुद्ध ज्ञान होने पर शाश्वत अनादि अनन्त अपरिच्छिन्न ईश्वर का बोध हो जाता है और सब वस्तुएं उसीके विवर्त हैं ऐसा ज्ञान होने लगता है।

आकस्मिकता और पदार्थों का बिना कारण बिना नियम होना मनुष्य भ्रम ही से कल्पना कर लेता है। शुद्ध ज्ञान से नियति का बोध हो जाता है और बिना ईश्वर के कुछ नहीं हो सकता यह तत्त्व विदित हो जाता है। मनुष्यों को भ्रम है कि ईश्वर अपूर्ण है। किसी प्रयोजन के साधन के लिये और अपनेको पूर्ण बनाने के लिये सृष्टि आदि ईश्वर करता है-इत्यादि सब भ्रम शुद्ध ज्ञान से दूर हो जाते हैं। सर्वव्यापी परासत्ता केवल ईश्वर है। वह सदा परिपूर्ण है। अपना कारण और अपना प्रयोजन सब वह स्वयं है।

मनुष्यों का यही शुद्ध बोध केवल स्वतन्त्र है और सब प्रकृति के नियम के अधीन है। इसलिये यथालाभ शरीर निर्वाह मात्र से संतुष्ट होकर जो होना है वही होगा ऐसा समझता हुआ ज्ञानी पुरुष सर्वदा सुखी रहता है। ईश्वर को सर्वात्मा समझ कर वास्तव प्रेम ज्ञानी को उसमें रहता है। जो लोग ईश्वर को सगुण समझ कर किसी सांसारी सुख की

इच्छा से ईश्वराधन करते हैं उनका प्रेम सच्चा नहीं है। ज्ञानी के प्रेम में प्रेमकर्ता और प्रेमकर्म दोनों एक होजाते हैं।

स्पाइनोज़ा के मत से एक ही द्रव्य ईश्वर है जिसके दो रूप हैं, शरीर और आत्मा। शरीर साकार और आत्मा निराकार है। प्रतियोगी और अभाव, अन्धकार और प्रकाश ये दोनो एक कैसे होसकते हैं—यही इस मत मे विरोध पड़ता है। शरीर या मूर्त पदार्थों में आकार का आभास मात्र है। वस्तुतः यह मूर्तयुक्त होना केवल एक शक्ति है। इसलिये मूर्त पदार्थ को जिसे कि यथार्थ में शक्तिमत्पदार्थ कहना चाहिए ज्ञाता से अर्थात् आत्मा से प्रतियोगी और अभाव का सम्बन्ध नहीं है और यदि प्रमाणों से सिद्ध हो तो उनका अभेद अविरुद्ध है-ऐसा लीब्नीज़ नामक दार्शनिक ने दिखाया है। मूर्तता कोई आकार या प्रादेशिक धर्म नहीं है किंतु शक्ति मात्र है। इस बात को आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं। इसलिये लीब्नीज़ का आविष्कार बड़ा गम्भीर है और इसके दर्शन का विचारपूर्वक परिशीलन करना चाहिए।

लीब्नीज़्। लीब्नीज़ का जीवन स्पाइनोज़ा के सदृश दीनता और दुःख से पूर्ण नहीं था। यह धनी के घर में उत्पन्न हुआ। स्वयं भी राजकीय कार्य आदि में रह कर सुखमय जीवन इसने बिताया। इसका जन्म लीप्सिक नगर में था। इसका मुख्य ग्रन्थ La Monadologie है।

स्पाइनोज़ा ने द्रव्य को एक माना है। लीब्नीज़ के मत से द्रव्य असंख्य और स्वयं कार्यशक्तिशाली हैं। गणित में बिन्दु माने गए हैं और प्रकृति विज्ञान में परमाणु माने जाते हैं, वैसे ही दर्शन में शक्तिकेन्द्र मानना उचित

है। इन शक्तिकेन्द्रों मे रन्ध्र नहीं है। इसलिये दूसरी किसी वस्तु का असर इनपर नहीं हो सकता। इनमें स्वयं कार्य ज्ञान आदि की शक्ति है। इन शक्तिकेन्द्रों का नाम लीब्नीज़ को संभव है कि ब्रूनो से मिला हो परंतु इनके स्वभाव आदि का पूर्ण उपपादन लीब्नीज़ ने अपने ही स्वतन्त्र विचार से किया।

मूर्छा स्वप्न आदि अवस्थाओं में आत्मा को ज्ञानशक्ति नहीं रहती। इसलिये आत्मा को सर्वथा ज्ञान स्वरूप नहीं कह सकते। शरीर को केवल विस्तारस्वरूप भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि शरीर विस्ताररूप ही है तो उसमें गुरुत्व रोधन आदि की शक्तियां कैसे हैं। इसलिये वस्तुतः कार्य शक्ति ही स्थिति का लक्षण है। प्रदेश में विस्तार गुरुत्व आदि सभी इसी कार्यशक्ति के फल हैं। वह कार्यशक्ति किस वस्तु मे है यह ज्ञान मनुष्य को कभी नहीं हो सकता। उस शक्ति के कार्यों से उसकी पारमार्थिकता का अनुमान होता है। ऐसे ही उसी शक्ति का कार्य ज्ञान भी है। पर यह शक्ति स्पाइनोजा के द्रव्य सी एक नहीं है सभी चित्त और सभी सांसारिक पदार्थ स्वतन्त्रशक्तिशाली हैं। उनके कार्य पृथक् देख पड़ते हैं इसलिये शक्तियां अनन्त हैं। जितने शक्ति-केन्द्र हैं उतनी ही पृथक शक्तियां हैं। प्रत्येक शक्तिकेन्द्र स्वतन्त्र गवाक्षहीन और समस्त जगत् का संक्षेप रूप है। इन शक्तिकेन्द्रों में परस्पर समानभावता पहिले ही से चली आती है इसीसे एक दूसरे के अनुसार चलता हुआ जान पड़ता है। इच्छा ज्ञान और कृति सभी शक्तिकेन्द्र में स्वाभाविक है। इसलिये आत्मरूप ये सब केन्द्र हैं।

आत्मातिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है। इसी आत्मशक्ति के कार्यो से बाह्य पदार्थो का भान होता है। मनुष्यो की आत्मा में और अन्य वस्तुओ में इतना ही भेद है कि मनुष्य की आत्मा को स्पष्ट आत्मज्ञान (Apperception) है और अन्य पदार्थों को वेदना मात्र अस्पष्ट (perception) है।

यद्यपि ये शक्तिकेन्द्र गवाक्षहीन है और बाह्य वस्तुओं का प्रवेश इनमें नहीं हो सकता तथापि जो और वस्तुओं में कार्य होता है सो सब प्रत्येक शक्तिकेन्द्रों में भी वैसाही प्रतिविम्बित होता है। अर्थात् यद्यपि वस्तुतः प्रत्येक शक्ति-केन्द्र अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकता तथापि प्रत्येक में और सबके कर्मों के समान ही कार्य होता रहता है। इसलिये अपने को देखना और सब वस्तुओं के देखने के तुल्य है। परंतु सब शक्तिकेन्द्र एक प्रकार के नहीं हैं। किसी में संसार का प्रतिविम्ब स्पष्ट पड़ता है किसी में अस्पष्ट अर्थात् कुछ शक्तिकेन्द्र स्वच्छ और उत्तम हैं, कुछ अस्वच्छ और मलिन हैं। उत्तम की आज्ञा मे अधम केन्द्र रहा करते हैं। मनुष्यों में आत्मा उत्तम शक्तिकेन्द्र है जिसके अनुगामी शरीर घटक अनेक शक्तिकेन्द्र हैं। निर्जीव वस्तुओं में शासक शक्तिकेन्द्र नहीं है सभी एक समान हैं सजीवों में जीव शासक केन्द्र है। उत्तम केन्द्रों को और केन्द्र अपनी इच्छा से अनुसरण करते हैं। शारीरक शक्तिकेन्द्रों में जैसे कार्य होते हैं उसीके समान कार्य आत्मकेन्द्र में भी होता रहता है क्योंकि दोनों में पहिले ही से एक भावता (Pre-established harmony) है। जैसे दो घड़ियां ऐसे चलाई जांय कि ठीक दोनों एक ही समय बतलावें वैसेही आत्मकेन्द्र और

शरीर केन्द्र दोनों ही समान भाव से चलते हैं। ईश्वर ने एक ही बार दोनों को ऐसा चला दिया है कि बराबर एक भाव से दोनों चल रहे हैं, बार बार चलाने की अवश्यकता नहीं पड़ती।

शक्तिकेन्द्रों में उत्कर्षअपकर्ष होने के कारण एक शक्ति केन्द्र सब से उत्तम है और दूसरा सबसे निकृष्ट है जिनके बीच में असंख्य केन्द्र हैं। सब शक्तिकेन्द्र शाश्वत अनादि अनन्त हैं। शरीर शक्तिकेन्द्रों ही का कार्य विशेष है ऐसा पहिले कह आए हैं। इसलिये निःशरीर कोई शक्तिकेन्द्र कभी नहीं है। पर सशरीरत्व को आत्मा का बन्धन नहीं समझना चाहिए क्योंकि आत्मा की शक्ति का आभास मात्र शरीर है, कोई पृथक् पदार्थ नहीं है जिससे आत्मा बद्ध हो।

शक्तिकेन्द्रों में सर्वदा परिणाम होता रहता है। इसी परिणाम को जीवन कहते हैं। मृत्यु इसी परिणाम की एक विशेष अवस्था है। प्रत्येक शक्तिकेन्द्र में एक परिणाम भूत-पूर्व दूसरे परिणाम के अधीन है इसलिये अकस्मात् उन्नति या अवनति नहीं हो सकती। केवल इतनाही स्वातन्त्र्य शक्तिकेन्द्रो को है कि प्रत्येक अपनी ही पूर्वावस्थाओं से नियत है किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नही रखता।

सबसे उत्तम शक्तिकेन्द्र ईश्वर है। सब वस्तुओं का स्वयं पूर्णस्वरूप अन्यनिरपेक्ष कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वही सर्वकारण सब शक्तिकेन्द्रो का भी शक्तिकेन्द्र (Monad of Monads) ईश्वर है। मनुष्य की बुद्धि प्रकृति मे सर्वोत्तम है तथापि ईश्वर के पूर्ण बोध का इसको सामर्थ्य नहीं है।

अस्पष्ट कुछ कुछ आभास ईश्वर का मनुष्य बुद्धि में हुआ करता है । ईश्वर अप्राकृत है और मनुष्य की बुद्धि से सर्वथा ग्राह्य नहीं है तथापि उधर प्रवृत्ति करते करते मनुष्य की ईश्वर तक पहुंच हो सकती है । ईश्वर के न्याय नियम आदि से यह सम्पूर्ण संसार चल रहा है । यद्यपि परमेश्वर स्वतन्त्र है तथापि ऐसे नियम उसने बना दिए हैं जिनके अनुसार संसार की प्रवृत्ति है और उन नियमों में परिवर्तन नहीं होता ।

जर्मनी में लीब्नीज़ के अनुसारी ज़ीर्नहासेन प्युफेन्डार्फ टामेसियस वल्फ आदि बहुतेरे हुए और काण्ट के दर्शन के आविर्भाव तक इसका दर्शन खूब प्रचरित रहा। इन दार्शनिकों में कृस्टियन वल्फ मुख्य था। इसका जन्म ब्रेस्लाव नगर में था। इसका मुख्य उद्देश्य सर्व साधारण में दार्शनिक तत्त्वों का प्रचार था । इसके जनप्रिय धर्म आचार आदि संबन्धी लेखों से जर्मनी में दर्शन का अच्छा प्रचार हुआ ।

लीब्नीज़ के संविद्वाद के विरुद्ध अनुभववाद (Empiricism) का उद्भव इङ्गलैण्ड में हुआ इसलिये यहां इङ्गलैण्ड के दर्शन का वृत्तांत अब दिय जाता है ।
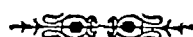
द्वितीय अध्याय।
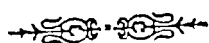
लाक। जान लाक का इंगलैण्ड में रिङ्गट नामक नगर मे जन्म था। इसने पहिले वैद्यक का अभ्यास किया। एक तो पहिले ही से आङ्गलभूमि का परीक्षा और अनुभव की ओर अधिक ध्यान था, दूसरे वैद्यक के अभ्यास से प्राचीन दार्शनिको की रीति सर्वथा असंगत लाक को मालूम पड़ी। आंख मूंद कर सृष्टि ईश्वर आदि के विषयों में मनमानी कल्पना करना दार्शनिक का कार्य नहीं है। मनुष्य के मन में जन्म ही से कोई तत्त्व भेद नहीं है जिसका ध्यान से अन्वेषण हो सकता है। बाह्य पदार्थों के अनुभव से मनुष्य को ज्ञान होता है इसलिये बाह्य पदार्थों की परीक्षा से तत्त्व ज्ञान का संभव है।

अपने ग्रन्थ मे जिसका नाम मनुष्य बुद्धि पर एक प्रबंध (Essay on Human Understanding) है लाक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान मनुष्य को सहज नहीं है, बाह्य वस्तुओं के अनुभव से प्राप्त है। लीब्नीज़ आदि दार्शनिकों ने कहा है कि कितने ज्ञान मनुष्य को पहिले ही से हैं पर मनुष्य को इनके होने का बोध नहीं है। ज्ञान है पर उसका बोध नहीं है। ये परस्पर विरुद्ध बाते हैं इसलिये यही कहना ठीक है कि बिना बाह्य पदार्थों के अनुभव के मनुष्य को ज्ञान नहीं हो सकता। नीति धर्म आचार आदि किसी विषय के कोई ज्ञान ऐसे नहीं है जो कि मनुष्य को जन्म ही के समय से मन मे हो। सब ज्ञान शिक्षा के अधीन है।

मन सादे काग़ज़ सा है । प्रत्यक्ष सब ज्ञान का मूल है। मुख्य दो प्रकार के ज्ञान है, वाह्य सवेदन से वाह्य पदार्थो का ज्ञान होता है और चिन्तन या अनुशीलन से मानस या आन्तर वस्तुओं का ज्ञान होता है । अनुशीलन भी स्मृतिरूप है। जो वस्तु पहिले संवेदन से ज्ञात है उसीका अनुशीलन पीछे होता है । इसलिये संवेदन अर्थात् ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ही मानस प्रत्यक्ष का भी मूल है । इसीसे सब ज्ञान उत्पन्न होता है ।

मन को अनेक संवेदनो को जोड़ने घटाने आदि की शक्ति है । इसलिये प्रत्यय दो प्रकार के हैं, साधारण या शुद्ध और मिश्र या समस्त । शुद्ध प्रत्यय एक इन्द्रिय के द्वारा आते हैं जैसे रूप रस गन्ध आदि । मिश्र प्रत्यय वृक्ष आदि हैं जिनमें रूप आदि कई गुण मिले हुए है ।

यहां एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। जिनके प्रत्यय या बोध चित्त में होते हैं उनके सदृश गुण वाह्य वस्तुओं में हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए । मन मे जो रूप आदि का बोध होता है उस बोध को प्रत्यय कहते है और उन प्रत्ययों के प्रयोजक जो धर्म वस्तु में है उन्हे गुण कहते हैं अर्थात् प्रत्यय चित्तगत है और गुण वाह्य वस्तुगत हैं । गति आकार विस्तार आदि द्रव्य के वास्तव स्वकीय गुण है । इनका जैसा अन्तःकरण मे भान होता है वैसे ही ये वस्तु में भी हैं पर वर्ण रस आदि केवल इन्द्रियों के संवन्ध से विदित होते है। ये वास्तव गुण वाह्य द्रव्य के नहीं हैं। जैसे सूई गड़ाने से जन्तु को दुःख होता है पर वस्तुतः सूई में दु.ख नहीं है, केवल दु.खप्रयोजक कुछ तीक्ष्णता कठिनता

आदि गुण हैं वैसे ही रसादि बोधप्रयोजक गुण रसादि भिन्न कुछ दूसरे प्रकार की उन उन वस्तुओं में वर्तमान हैं। जो वस्तु पूर्ण हरी या लाल देख पड़ती है वही सूक्ष्म दर्शन के द्वारा सफेद मालूम होने लगती है जब उसके दाने फरक हो जाते हैं। इसीसे वर्ण आदिक गुण इन्द्रियाधीन है न कि वस्त्वधीन, क्योंकि वर्ण रस आदि गुण यदि वस्त्वधीन होते तो सदा एक से अनुभव में आते।

यदि मनुष्य के ज्ञान की परीक्षा की जाय तो देखने में आता है कि संवेदन, धारण, स्मरण, भेदप्रत्यय, तारतम्य बोध और प्रत्याहरण या विवेचन की शक्तियां मनुष्य को हैं। संवेदन के द्वारा रूप आदि का अनुभव होता है। धारण के द्वारा यह अनुभव कुछ काल तक मन में ठहरता है। स्मरण से उसका पुनरुज्जीवन हो सकता है। भेदबोध के कारणरूप को रस से या एक रूप को रूपान्तर से मनुष्य भिन्न समझ सकता है। एक रूप का दूसरे रूप से कितना भेद और कितनी समता है इस बोध को तारतम्यबोध कहते हैं। ये सब शक्तियां केवल मनुष्यों ही मे नहीं पर छोटे जन्तुओं मे भी है। किंतु अन्तिम शक्ति अर्थात् प्रत्याहरणशक्ति केवल मनुष्यों ही में है। इस शक्ति के द्वारा सामान्य प्रत्यय बनते है। जातिबोध इसी शक्ति से होता है। सब वृक्षो में एक वृक्षत्व जाति है और यही समान धर्म होने के कारण सभी का वृक्ष नाम पड़ा है यह बोध अन्य जन्तुओं को नहीं हो सकता। इसी विशेष शक्ति को प्रत्याहरण शक्ति कहते है। इन संवेदन धारण आदि व्यापारो में पहिले चित्त बाह्य वस्तुओं के अधीन है पर आगे आगे की शक्तियों में

क्रम से मन स्वतन्त्र होता है और अपनी कार्यक्षमता को प्रकाशित करता जाता है ।

अनन्त शाश्वत वस्तु का अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता इसलिये कितने ही समझते हैं कि मन में अनुभव-निरपेक्ष ये प्रत्यय हैं । पर ऐसा समझना भ्रम है क्योंकि अनन्त अनादि अनश्वर आदि प्रत्यय केवल अभावस्वरूप हैं, वास्तव भावरूप नहीं है। चित्त मे शक्ति है कि जहां तक चाहे किसी वस्तु देश काल आदि को पसराता जाय। वस्तुतः परिच्छिन्न ही देश और काल चित्तगोचर हैं पर इस परिच्छिन्न देश काल मे और और देश काल मन जोड़ता जाता है इसीसे अनन्त और शाश्वत प्रत्यय का आभास होता है ।

मनुष्य की कृतिशक्ति (Will) सुख के अधीन है । इसलिये मनुष्य की कृतिशक्ति स्वतन्त्र है या नहीं वह प्रश्न निरर्थक है ।

कई गुणों को एक साथ देखते देखते मनुष्य को वे गुण किसी एक द्रव्य में लिपटे हुए मालूम पड़ते हैं । वस्तुतः इन गुणों के समुदाय के अतिरिक्त कोई द्रव्यवस्तु पृथक् नहीं है । कितने दार्शनिक कहते है कि द्रव्य एक विलक्षण अज्ञात वस्तु है जिसमें आकार विस्तार आदि लिपटे है और इन आकार आदि में वर्ण आदि हैं । तो जैसे पौराणिक कहते है कि पृथ्वी शेष पर और शेष दिग्गज पर और दिग्गज कच्छप पर है पर यह कछुआ किस पर है इस का जवाब नहीं देते वैसे ही यह द्रव्य क्या है यह अन्त में पता नहीं लगता तो फिर पहिले ही से क्यों नहीं कहना कि

पृथ्वी किसी पर नहीं है स्वयं प्रतिष्ठित है और गुणों का आश्रय और कोई वस्तु नहीं है वे स्वयं वर्तमान हैं (लाक का ग्रन्थ भाग २, आ २३)।

ऐसे ही जाति कोई वस्तु नहीं है। विशेष व्यक्तियों को मनुष्य देखता है। इन सभी में बहुत से धर्म समान पाकर उन्हीं समान धर्मों के समुदाय को मनुष्य एक जाति मान लेता है और वैसी वस्तुओं का जिनमें ये धर्म हों एक विशेष नाम रख देता है।

अब प्रश्न यह रहा कि ज्ञान किसे कहते हैं। दो या अनेक प्रत्ययों में सम्बन्ध या विरोध का जो अनुभव है उसी को ज्ञान कहते हैं। यद्यपि मनुष्य को साक्षात् अनुभव अपने ही प्रत्ययों का और उनमें परस्पर सम्बन्धों का है तथापि कितनी वस्तुएं तर्क से निश्चित होती हैं। हमारे प्रत्यय की प्रयोजक बाह्य वस्तुएं अवश्य हैं, नहीं तो शुद्ध आन्तर स्वप्न आदि के ज्ञान मे और वस्तुज्ञान में कोई विशेष न होता और मन के लड्डू से वैसी ही तृप्ति होती जैसे असली लड्डुओं से। इसी प्रकार एक इन्द्रिय से जिस बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है उसकी बाह्य स्थिति में सन्देह हो तो दूसरी इन्द्रिय से निश्चय कर लेते है, जैसे सामने दीवार है या ऐसे ही कोई भ्रम है ऐसा यदि संशय नेत्रकृत ज्ञान में हो तो स्पर्श से निश्चय कर लेते है। इस प्रकार इन्द्रियों की बाह्यवस्तुमूलक मे एकता देख कर भी बाह्य वस्तुओं की स्थिति निश्चय होती है। पर वह बाह्यवस्तु कैसी है इसका निश्चय नहीं हो सकता। ऐसे ही आत्मा ईश्वर आदि का भी मनुष्य को जो ज्ञान है उसके विषय मे इतना

ही कह सकते हैं कि आत्मा की और ईश्वर की स्थिति है। विशेष परीक्षा केवल प्रत्यक्षानुभूत प्रत्ययो की ही हो सकती है । इसलिये आत्मा ईश्वर आदि अप्रमेय विषयों का चिन्तन छोड़ कर मनुष्य को अनुभव और परीक्षा जिन विषयो की हो सकती है उन्हींके ज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिए।

वर्कले । जार्ज वर्कले का जन्म आयरलैण्ड मे हुआ। यह वहुत दिनों तक क्लोयिन् नगर का धर्मनेता (Bishop) था। इसका मुख्य ग्रन्थ मनुष्य के ज्ञान का तत्त्व (Treatise on the Principles of Human Knowledge) है ।

लाकने वर्ण रस आदि प्रत्यय से भिन्न वाह्य वस्तु नहीं है इतना तो माना है पर साथ ही साथ आकार विस्तार गति आदि वाह्य हैं और मनुष्य के प्रत्यय के कारण हैं यह भी माना है। यह अर्धजरतीय अत्यन्त असङ्गत हैं क्योंकि आकार आदि का वोध होता है या नहीं यदि वोध होता तो ये भी प्रत्यय स्वरूप हैं और यदि वोध नहीं होता तो उनकी स्थिति ही में प्रमाण क्या । इसलिये द्रव्य अर्थात् समस्त संसार आत्मा का कार्य है । प्रत्यय आत्मा से उत्पन्न हैं । इनकी वाह्य स्थिति सर्वथा असंभव है । पर सव वस्तु मनुष्य की परिच्छिन्न आत्मा के अधीन तो नहीं हैं क्योंकि सूर्य चन्द्र आदि प्रायः सभी वस्तुएं जो अनुभूत होती हैं उन पर हमारा वश नहीं है । इसलिये कोई हमारी परिच्छिन्न आत्मा से अधिक शक्तिमती दूसरी आत्मा है जिसका कार्य यह संसार है। इसी आत्मा को परमेश्वर या परमात्मा कहते हैं। इसीकी सहायता से जीव को सव प्रत्यय होते हैं। वाह्य वस्तुओं की स्थिति केवल भ्रम है । जीव,

परमेश्वर, और इन दोनों के प्रत्यय इन तीन वस्तुओं के अतिरिक्त और सब भ्रम मात्र है ।

बर्कले के प्रत्ययान्तरत्ववाद में कई शङ्काएं रह गईं । परमात्मा और जीव से क्या सम्बन्ध है । कैसे परमात्मा के प्रत्यय सूर्य चन्द्र आदि जीवको भासते हैं इत्यादि विषयों का स्पष्ट बोध इसके दर्शन से नहीं हुआ और इसी कारण पूर्ण संतोष वहुत से वैज्ञानिको को इस मत से नहीं हुआ । केवेनिस आदि फ्रांस के वैज्ञानिक आत्मवाद का खण्डन कर बाह्य वस्तुवाद का अवलम्बन करने लगे ।

ह्यूम । ऐसे समय में ह्यूम नामक स्काटलैण्ड के दार्शनिक ने मानस परीक्षा की रीति निकाली जो उसके बाद काण्ट की सहायता से सर्वत्र प्रचलित हुई । ह्यूम का मुख्य ग्रन्थ 'मनुष्य के ज्ञान की एक परीक्षा' (An Enquiry Concerning Human Understanding) है ।

प्रत्यक्ष या अनुभव और चिन्तन या स्मृति इन दोनों के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है । अनुभवगोचर विषय अधिक प्रबल होते है । वे ही स्मरणगोचर होने से दुर्बल होते हैं । इन दोनों मे भी अनुभव में जो विषय हैं उन्हींकी स्मृति में पुनरुज्जीवन होता है । स्मृति उत्प्रेक्षा कल्पना आदि में अनुभवगोचर विषयो के अतिरिक्त और कुछ भी आ नहीं सकता । अनुभव के पृथक् विषयो को जोड़ना, एकत्र मिले विषयो का पृथक् करना यही मनुष्य की बुद्धि से हो सकता है । कोई नई बात अनुभव से अतिरिक्त बुद्धि दे यह सर्वथा असभव है । यहां तक कि ईश्वर का प्रत्यय जो मनुष्य के हृदय मे है सो भी मनुष्य में प्राकृत और

पदार्थों से प्रत्यक्षानुभूत जो उत्तमता सौन्दर्य ज्ञानशक्ति आदि परिच्छिन्न रूप से पाए जाते हैं उन्हींमें से परिच्छेद को अलग कर अपरिच्छिन्न रूप में उत्प्रेक्षित कर कोई पृथक् इस प्रकार की अपरिच्छिन्न ज्ञानादि विशिष्ट वस्तु को मान लेना मात्र है।

प्रत्यक्षानुभूत वस्तुओं में तीन प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं (१) सादृश्य, (२) देश या काल में सन्निकर्ष, (३) कार्य-कारण-भाव। दो वस्तुए जब एक सी देख पड़ती है तो एक के स्मरण से दूसरे का भी स्मरण हो जाता है। ऐसे ही हाथी हाथीवान आदि जो दो वस्तु देश या काल में एक के समीप दूसरी देख पड़ती है उनका भी स्मरणपरस्परोत्तेजक हो जाता है। इसी प्रकार अग्नि और धूम आदि वस्तु जिनमें कार्य-कारण-भाव है उनके ज्ञान से भी एकसंबन्धिज्ञान को अपर सम्बन्धिस्मारकता होती है।

इन तीनों सम्बन्धों से कार्य कारण-भाव पर दार्शनिकों की बड़ी आस्था है। भारतीय नैयायिकों के सदृश ऐंसेल्म डेकार्ट आदि यूरोप के दार्शनिकों ने इसी कार्य-कारण-भाव के बल पर ईश्वर की सिद्धि का भरोसा रक्खा था। प्रायः दार्शनिक लोग समझते है कि चित्त मे कार्य कारण-भाव की बुद्धि सहज है। इसलिये प्रत्येक वस्तु के देखने से उसके कारण की चटपट स्वाभाविक जिज्ञासा होती है और समस्त संसार को कार्य मानकर उसका कारण ईश्वर सिद्ध होता है। पर ऐसे तर्क केवल भ्रममूलक है, क्योंकि कार्य-कारण भाव का बोध स्वाभाविक नहीं है। जैसे अन्य सम्बन्धों का बोध अनुभवमूलक है वैसे ही इस सम्बन्ध का भी ज्ञान

है। मनुष्य एक गेंद को दूसरे गेंद में धक्का देते हुए देखता है। इससे स्थिर द्वितीय गेंद चल प्रथम गेंद के सम्बन्ध से चल पड़ता है। इतना देखने से और ऐसा जब जब हो तब तब कोई और प्रतिबन्धक न हो तो द्वितीय गेंद में गति अवश्य उत्पन्न होती है। पर यह व्याप्तिग्रह सर्वथा अनुभव और परीक्षा के अधीन है। कोई ऐसी आवश्यक शक्ति एक गेंद में है जिससे द्वितीय चल पड़ता है यह स्वाभाविक ज्ञान भ्रम है। वस्तुतः कार्य और कारण दोनों भिन्न वस्तुएं हैं जिनमें आवश्यक कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता या हो भी तो जाना नहीं जा सकता। केवल प्रायः पूर्ववर्तिता मात्र देखने ही से मनुष्य कारणता का निश्चय कर लेता है। ऐसे ही मनुष्य की इच्छा और उसके प्रयत्न से उसका हाथ हिलता है पर क्यों हाथ हिलता है यह कुछ नहीं कह सकते। अनुभव से हाथ का हिलना सिद्ध है। पर लकवा मारने पर वही हाथ नहीं हिलता तो समझते हैं कि अब प्रयत्न करना व्यर्थ है। इसलिये अनुभव से बढ़ कर कोई अपूर्व निश्चय और अद्भुत शक्ति कार्य-कारण-भाव के स्थलों में मानना शुद्ध भ्रम है।

जिस लड़के ने कभी धुएं के साथ आग नहीं देखी है उसे कभी धुआं देखने से उसके कारण का अनुभव नहीं हो सकता। केवल बार बार देखते देखते जब अभ्यास हो जाता है कि बिना आग के धुआं नहीं देखा जाता तब दोनों में एक आवश्यक सम्बन्ध कार्य-कारण-भाव है ऐसा मालूम पड़ने लगता है।

इस प्रकार कारणता का खण्डन कर ह्यूम ने अनुभवा-

गोचर ईश्वर अप्राकृत घटना आदि का भी खण्डन किया। और बाह्य वस्तु के विषय में ह्यूम ने यह समझा है कि जो कुछ हमारे अनुभव का विषय है सो सब हमारे प्रत्यय हैं। केवल किसी प्रकार इन प्रत्ययों से बाह्य वस्तु की सत्ता का अनुमान हो सकता है पर इन प्रत्ययों की प्रयोजक वस्तु प्रत्ययों के सदृश है कि विसदृश यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि अनुभव के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है, अनुभव बाह्य वस्तु के ग्रहण में असमर्थ है।

लाक और ह्यूम के दर्शन के विरुद्ध सामान्य बुद्धिवाद (Common sense Philosophy) स्काटलैण्ड में निकला। टामस रीड और ड्युगल्ड स्त्युअर्ट इस दर्शन के प्रचारक हुए। ह्यूम की बातों से धर्म आदि विषयो की कौन पूछे यहां तक कि वैज्ञानिक और सामान्य विषयो में भी बड़ा संशय आ पड़ा। ह्यूम ने सभी विषयों का खण्डन कर दिया। बाह्य वस्तुओं की स्थिति, ईश्वर की सत्ता, कार्य-कारण-भाव सभी ह्यूम की कसौटी पर झूठे प्रमाणित हुए। ऐसे समय में सामान्यतः गँवार से गँवार और चालाक से चालाक शिक्षित अशिक्षित सभी व्यक्तियों का जिन बातों पर विश्वास है उन्हे निश्चित मानना यह मत बहुतेरों को अच्छा मालूम हुआ।

रीड। हचेसन और स्मिथ आदि आचार और नीति विषयों के लेखकों में इङ्गलैण्ड मे भी सामान्य बुद्धि पर विश्वास सूचित हुआ था पर स्पष्ट इन विषयों का प्रतिपादन पहिले पहल स्काटलैण्ड में रीड ने किया। रीड चिरकाल तक एबर्डीन और ग्लासगो में अध्यापक था। 'सामान्य बुद्धि की दृष्टि से मनुष्य के चित्त की परीक्षा' (Inquiry into the

Human mind on the Principles of Common-sense) इसके मुख्य ग्रन्थ का नाम है। इस ग्रन्थ में इसने लिखा है कि पहिले ह्यूम के ग्रन्थ को पढ़कर विज्ञान धर्म आचार आदि सभी विषयों में इसे संशय पड़ा और अश्रद्धा उत्पन्न हुई। पर परीक्षा करने पर ह्यूम का मत इसे साधारण अनुभव से व्याहत देख पड़ा। इसलिये बेकन और न्यूटन आदि वैज्ञानिकों की रीतियो को अवलम्बन कर इसने अपना दर्शन ह्यूम के विरुध स्थापन किया।

मनुष्य के चित्त में ऐसे स्वाभाविक निःसंदेह कितने विश्वास है जिनका किसी दर्शन से प्रत्याख्यान नहीं हो सकता है। आत्मा की स्थिति और बाह्य वस्तु की सत्ता मे सब साधारण मनुष्यों को पक्का स्वाभाविक विश्वास है। जब मनुष्य को प्रभा आदि का संवेदन होता है तो रूपादि गुण विशिष्ट प्रत्यक्ष का विषय और ज्ञानवती आत्मा जिसे प्रत्यक्ष होता है इन दोनों की स्थिति स्वभाव सिद्ध मालूम होती है। अनुभव और स्मरण मे और दोनों से उत्प्रेक्षा में इतना भेद है कि इनको सर्वथा भिन्न ही समझना चाहिए। प्रत्यक्षानुभव को अभ्यास या सहचारजन्य भ्रम कभी कह नहीं सकते। सर्वथा नवीन वस्तु जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से अर्थात् विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से होता है। ऐसी अवस्था मे जो बाह्य विषय मे अथवा आत्मा मे विश्वास न रक्खे उसे दार्शनिक नहीं बल्कि उन्मत्त कहना चाहिए।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियो से हमे बाह्य विषयो का ग्रहण होता है वैसे ही अन्तःकरण (Moral Sense) से उचित

अनुचित आदि का विचार होता है । उचित अनुचित का भेद और इस भेद को ग्रहण करनेवाली शक्ति ये भी दोनों पारमार्थिक वस्तुए हैं । इनका भी खण्डन नहीं हो सकता ।

अपने 'मानस शक्तियां' (Intellectual Powers) नाम के ग्रन्थ में रीड ने लिखा है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के समय बाह्य वस्तु की स्थिति मे अपरिहार्य विश्वास मनुष्य को होता है । यह विश्वास तर्कमूलक नहीं है पर स्वाभाविक प्रत्यक्ष के साथ साथ होता है । इसलिये दार्शनिको ने जो मनोमय संसार माना है और बाह्य वस्तुओं का खण्डन किया है यह केवल भ्रम है ।

रीड का अनुसरण कर ह्यूम के मत का स्ट्युअर्ट आदि दार्शनिकों ने खण्डन करने का प्रयत्न किया पर वे सफल नहीं हुए । चित्त में जो कुछ आजाय उसीको प्रमाण समझ कर ह्यूम से झगड़ने में साफल्य कभी नहीं हो सकता था । क्योंकि परीक्षा द्वारा सामान्य बुद्धिवेद्य वस्तुओं का ह्यूम ने पूर्ण प्रत्याख्यान कर दिया था । परीक्षा ही के अस्त्र से काण्ट ने ह्यूम का किस प्रकार प्रत्याख्यान किया सो आगे दिखाया जायगा । तब तक लाक के देशान्तरीय अनुगामियों का वृत्तान्त यहां दिया जाता है ।

कौंडियैक । लाक के अनुगामियों की संख्या फ्रांस में अधिक हुई । इनमें कौंडियैक नामक दार्शनिक शुद्ध प्रत्यक्ष-वादी है । प्रत्यक्ष पर प्रबन्ध (A treatise on sensations) नामक अपने ग्रन्थ में इस दार्शनिक ने यह दिखलाया है कि लाक ने दो प्रत्ययों के दो मूल बताए हैं संवेदन या ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष और मानसचिन्तन । इन दोनों मे से ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष

ही मूल है मानस कल्पना का भी, इसलिये एक ही मूल सब प्रत्ययो का मानना उचित है ।

इसने बड़ी बुद्धिमानी से इस बात का प्रतिपादन किया है कि प्रत्यक्ष ही सब प्रत्ययों का मूल है । कल्पना करो कि एक ऐसी मूर्ति है जो मनुष्य के सदृश प्राण आदि की शक्ति रखती है पर ऐसा समझो कि इसके शरीर के ऊपर एक तह पतलासा संगमर्मर का बैठाया है जिससे इसको बाह्य वस्तुओं का अनुभव नहीं होता । अब इस मूर्ति को बाह्य वस्तुओं का अनुभव नहीं होने के कारण किसी ज्ञान का संभव नहीं है । चित्त इसका शून्य है । इस अवस्था में यदि इसके नाक पर से मर्मर की एक आवृति पहिले निकाल दी जाय तो इसे केवल गन्ध का अनुभव होगा । इस समय गन्ध के अतिरिक्त आत्मा अनात्मा किसी वस्तु का ज्ञान इसको नहीं हो सकता । बाह्य वस्तु का या अपने शरीर ही का स्पर्श यह कर ही नहीं सकता, कुछ देख नहीं सकता इसलिये गन्ध प्रत्यय के अतिरिक्त न इसकी आत्मा है और न शरीर है, न बाह्य वस्तु है ।

अब यदि क्रम से इस मूर्ति के सामने गुलाब चमेली लहसुन आदि वस्तुएं रक्खी जांय और हटाई जांय तो इस मूर्ति को पहिले तो हटाई हुई चीज़ों के गन्ध का कुछ स्मरण रहेगा फिर सुगन्ध (गुलाब आदि के गन्ध) के पुनः अनुभव की इच्छा होगी और लहसुन आदि के दुर्गन्ध के परिहार की इच्छा होगी । इस प्रकार गन्धप्रत्यय, अवधान, तारतम्य, स्मृति, इच्छा, सुख दुःख और प्रयत्न रूप होगया। केवल गन्ध के प्रत्यय से सुगन्ध की ओर अवधान, और दुर्गन्ध

दोनो की स्मृति, फिर दोनो का तारतम्य, एक से सुख दूसरे से दु:ख, एक की ओर इच्छा दूसरे से अनिच्छा, एक के पुनरनुभव का प्रयत्न दूसरे के परिहार का प्रयत्न, इतना सब हुआ। तारतम्य से सम्बन्ध ग्रहण चिन्तन तर्क विवेचन आदि अनेक धर्म अङ्कुरित हुए और बुद्धि का आविर्भाव हुआ। जब इस मूर्ति को दुर्गन्ध का अनुभव होता है तब इसे सुखावह सुगन्ध का स्मरण होता है। तब इन दो प्रकार के गन्धों का तारतम्य करने से दोनो के सादृश्य और विसादृश्य का बोध होता है। फिर क्रम से सुख और दु:ख गन्ध के सहभावी पृथक् विषय हैं यह भान होता है और इसी अवधान स्मरण सुख दुःख आदि के समूह को आत्मा कहने लगते हैं।

इसी प्रकार किसी एक इन्द्रिय के अनुभव से समस्त ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दिखाया जासकता है। इसलिये सब ज्ञान का मूल ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष है, जैसे नाक की तह निकालने से मूर्ति को इतना ज्ञान हुआ है वैसे ही आँख आदि की भी तह निकाल देवें तो उसका ज्ञान और भी बढ़ता जायगा पर जब तक स्पर्शहेतु त्वगिन्द्रिय की तह न निकाली जाय तब तक बाह्य वस्तुओ का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुओं की बाह्य सत्ता के ज्ञान के लिये यह इन्द्रिय अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग अन्धे जनमते हैं उनकी आंख यदि किसी प्रकार दुरुस्त करदी जाय तो भी पहिले बिना स्पर्श के चित्र के घोड़े मे और असली घोड़े में भेद उन्हे नहीं जान पड़ता जैसा कि केसेलेन नामक डाक्टर की चिकित्सा में हुआ था। स्पर्शेन्द्रिय वस्तुओ का घनत्व

कठिनत्व आदि विदित होता है जिसके कारण उनकी बाह्य स्थिति जानी जाती है।

इस रीति से चित्त को शुद्ध सादा पत्र कौंडियैक ने सिद्ध किया। अब चित्त में कितना अंश स्वाभाविक अनुभव निरपेक्ष है यह सिद्ध करने का यत्न जर्मनी के महा दार्शनिक कांट के द्वारा हुआ जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।
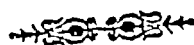
तृतीय अध्याय।
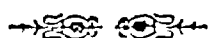
काण्ट। आधुनिक समय में सब से बड़े दार्शनिक काण्ट का जीवन और दर्शन लिखने का अब अवसर आया है। काण्ट का जन्म कौनिग्सबर्ग नगर में हुआ। इसका पितामह सकुटुम्ब स्काटलेण्ड से जर्मनी में गया था। इस का पिता जीनपोश बनाने का काम करता था। काण्ट का जीवन अत्यन्त साधारण था। इसने विवाह नहीं किया और अध्यापन में तथा ग्रन्थों के लिखने में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ जीवन बिता कर अस्सी बरस की अवस्था में यह मरा।

पहिले तो दर्शन के ग्रन्थ जो इसने लिखे उनमें लीब्नीज और वल्फ का अनुसरण किया, जिसमें प्रमाण-हीन कल्पना (Dogmatism) भरी हुई थी। पर कुछ दिनों के बाद जब इसने ह्यूम के ग्रन्थों को देखा तब इसने स्वयं लिखा है कि इसकी कल्पना की निद्रा (Dogmatic Slumber) खुली। पहिले मनुष्य को जब थोड़ा थोड़ा ज्ञान होने लगता है तब वह संसार ईश्वर आत्मा आदि के विषयों में अनेक कल्पना प्रमाणनिरपेक्ष करने लगता है। इस समय को कल्पना का समय (Dogmatic period) कहना चाहिए। फिर कुछ अधिक ज्ञान होने से इन कल्पनाओं में विरोध देख कर मनुष्य संशय में पड़ता है। इस समय को संशयावस्था (Sceptic period) कहना चाहिए। अन्ततः मनुष्य अपने ज्ञान की स्वयं परीक्षा कर कहां तक उसका ज्ञान पहुंच सकता है इत्यादि विषयों को ईश्वर आदि के आलोचन के पहिले

आवश्यक समझता है। इस समय को परीक्षा समय (Critical period) कहते हैं। लीब्नीज तक मनुष्य कल्पना समय में थे। ह्यूम संशयावस्था में हुआ। काण्ट ने परीक्षा समय, जो कि अभी तक वर्तमान है, आरम्भ किया।

ह्यूम ने कार्य कारण-भाव का खण्डन किया और यह दिखलाया कि एक वस्तु को सदा दूसरी वस्तु के बाद होते देख हम लोग उन दोनों में कार्य-कारण-भाव की कल्पना कर लेते है। वस्तुतः उन दोनों में आवश्यक कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विषय के विचारने से काण्ट को सूझा कि केवल कार्य कारण-भाव की ही क्यों सभी आवश्यक सम्बन्धों की तो यही दशा है। थोड़ी सी बातों को देखकर मनुष्य समझ लेता है कि (४+३)=७ अर्थात् चार और तीन मिलकर सात होते हैं और त्रिकोण के तीनों कोण मिलकर दो ऋजु कोण के तुल्य होते हैं। जब भूत भविष्य वर्तमान सारे त्रिकोण मनुष्य ने नहीं देखे हैं तो इस बात का निश्चय उसे कैसे होता है कि सब त्रिकोण मात्र के तीनों कोण मिलकर दो ऋजु कोण के बराबर होते हैं। इसलिये यह परीक्षा पहिले होनी चाहिए कि ज्ञान किस को कहते है। पश्चात् यह विचार हो सकेगा कि गणित आदि के आवश्यक सम्बन्धों का ज्ञान मनुष्य को संभव है या नहीं। इसी विषय का विचार काण्ट ने अपने मुख्य ग्रन्थ शुद्धज्ञान की परीक्षा (Critique of pure Reason) में आरम्भ किया है।

ज्ञान मे सम्बन्धग्रहण आवश्यक है। इसलिये प्रत्येक ज्ञान में उद्देश्य और विधेय दो वस्तुओं का सम्बन्ध जाना जाता है। पर कहीं कहीं उद्देश्य और विधेय में केवल शब्द

का भेद रहता है, वस्तुतः उद्देश्य से जो प्रथमतः ज्ञात है उसीको विधेय से विवरण कर देते हैं जैसे मूर्त शब्द से साकार पदार्थ का बोध होता है। इस वाक्य में मूर्त का विवरण साकार शब्द से किया गया। वस्तुतः दोनों में कोई भेद नहीं है और ऐसी प्रतिज्ञाओं को विवरणप्रतिज्ञा कहते हैं और इन प्रतिज्ञाओं से वास्तव ज्ञान नहीं होता। दूसरी प्रतिज्ञा वह है जिसमें विधेय से ऐसी कोई नई बात जान पड़े जो उद्देश्य के अर्थज्ञान से नहीं विदित है, जैसे पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है। इस प्रतिज्ञा में पृथ्वी शब्द से किसी को कभीं नही ज्ञात हो सकता है कि वह सूर्य के चारों ओर चलती है या नहीं, इसलिये विधेय सर्वथा नया है। ऐसी प्रतिज्ञाओं को संयोजनप्रतिज्ञा कहते हैं क्योंकि इसमें दो नई बातें जोड़ी जाती हैं।

संयोजनप्रतिज्ञाओं में कहीं सम्बन्ध आकस्मिक होता है। जैसे आज आकाश मेघयुक्त है। यहां आकाश का मेघ-युक्त होना सर्वदा के लिये नहीं है। पर दूसरे उदाहरणों में जैसे पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है या उष्ण से मूर्त पदार्थ फैलते हैं, विधेय और उद्देश्य का संबन्ध सब देश और सब काल के लिये है। इसी सार्वकालिक और सार्व-त्रिक संबन्धग्रहण को वास्तव ज्ञान कहते है।

अब मुख्य प्रश्न यह है कि इस प्रकार का ज्ञान कब हो सकता है। यह ज्ञान तभी संभव है जब उद्देश्य और विधेय ऐन्द्रियक विषय हों पर उनका सम्बन्ध बुद्धि स्वयं अपनी ओर से दे जैसे मूर्त द्रव्य उष्ण से फैलते हैं, यहां पर मूर्त द्रव्य और उष्ण से फैलना इन्द्रियग्राह्य है पर

इन दोनों में कार्य कारण-सम्बन्ध बताना शुद्ध बुद्धि का कार्य है। बिना आंख या स्पर्शेन्द्रिय की सहायता इन उद्देश्य और विधेयों का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्ययैक-वादियों का भ्रम है कि वे सब कुछ बुद्धि ही से निकालना चाहते हैं। ऐसे ही प्रत्यक्षवादियों का भ्रम है कि वे सब कुछ प्रत्यक्षाधीन कहते हैं क्योंकि उन्मत्त, निर्बुद्धि, विक्षिप्त आदि पुरुषों को उद्देश्य विधेय आदि का प्रत्यक्ष होने पर भी उनमें कार्य-कारण-भाव आदि संबन्धों का ग्रहण नहीं होता। इसलिये जहां ज्ञान होता है वहां सभी जगह कुछ अंश बुद्धि का है और कुछ अंश इन्द्रियों का है।

परन्तु इन्द्रियों से जो विषय हमें मिलते हैं वे भी बाह्यवस्तु स्वयं जैसी है वैसे तो हैं नहीं। इन्द्रियों के सम्बन्ध होने ही से उनका कुछ विलक्षण रूप हो जाता है। कोई अंश इन्द्रियज ज्ञान में ऐसा है जिसका वस्तु के अधीन परिवर्तन हुआ करता है। पर कुछ अंश ऐसे भी है जो सभी इन्द्रियज ज्ञान के लिये एक ही प्रकार के हैं। ये जो सब ऐन्द्रियक ज्ञान मे एक प्रकार के अंश हैं वे वस्तु के अधीन नही हैं, चित्त के अधीन हैं। ये देश और काल हैं। सब प्रत्यक्ष देश और काल में होता है इसलिये ये नियत अंश हैं और मन अपने खजाने में से इन अंशों को निकालता है। इसी देश और काल को चित्तप्रयुक्त, न कि स्वतन्त्र प्रतिपादन करना काण्टका नया काम है। और सब दार्शनिक इसके पहिले देश काल को बाह्य पदार्थ मानते थे।

बच्चा भी दुःखद वस्तु से हटता है और स्वभावतः सुखद वस्तु की ओर हाथ बढ़ाता है। इसलिये क्या चीज़

आगे है क्या पीछे है इत्यादि सब ज्ञान पहिले ही से बच्चे को भी है । इस कारण देश का ज्ञान सब ज्ञानों से प्रथम है । ऐसे ही काल में पहिले और पीछे का ज्ञान सबको स्वाभाविक है । दूसरा कारण देश और काल का मानस होने का यह है कि सब वस्तुओं को ज्ञान से निकाल दें तोभी देश और काल चित्त से नहीं जाता । अङ्कगणित रेखागणित आदि की प्रतिज्ञा सार्वत्रिक और सार्वकालिक मानी जाती हैं और अङ्कगणित का काल से और रेखागणित का देश से सम्बन्ध है । यदि देश और काल बाह्य विषय होते तो और ज्ञानों के सदृश गणित के ज्ञान भी एकदेशी क्यों न होते । इसलिये जैसा अज्ञ लोग समझते हैं कि देश और काल का बाह्य प्रत्यक्ष होता है सो भ्रम है । वस्तुतः देश और काल मानस पदार्थ है जिनसे संबद्ध सब कुछ देख पड़ता है । देश और काल दो रङ्गीन चश्मे हैं जिनके द्वारा सब कुछ दृश्य इन्हीं के रङ्गों से रँगा हुआ देख पड़ता है । बाह्य वस्तुओं का चित्त निरपेक्ष वास्तव स्वरूप (Noumenon) क्या है यह मनुष्य कदापि नहीं जान सकता । केवल वे हमें कैसे मालूम पड़ते हैं इन्हीं दृश्य रूपों को (Phenomenon) हम अनुभव मे ला सकते हैं ।

इस प्रकार ज्ञान का एक सोपान अर्थात् प्रत्यक्ष समाप्त हुआ । अब रह गया चिन्तन जो कि बुद्धि का इन्द्रिय निरपेक्ष स्वतन्त्र कार्य है । इस चिन्तन के लिये भी वस्तु बुद्धि को इन्द्रियों ही से मिलती हैं । पर इन्द्रियों से मिले हुए विषयों को ग्रहणबुद्धि अपने बारह वर्गों मे बाटती है । इन बारह सम्बन्धों में वस्तुओं को ला कर बुद्धि अपनी कल्पनाओं को फैलाती है । जितने प्रकार की प्रतिज्ञाएं

हो सकती हैं उतने ही वर्ग बुद्धि में हैं। चार मुख्य वर्ग है। १ परिमाण, २ गुण, ३ सम्बन्ध, ४ प्रकार। इन चारों में प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं। परिमाण के तीन भेद हैं एक, समस्त, और असमस्त। गुण के तीन भेद हैं-विधि, प्रतिषेध, और पर्य्युदास। सम्बन्ध के तीन भेद हैं स्वतन्त्र, सापेक्ष, और सविभाग (या वैकल्पिक)। प्रकार के तीन भेद हैं-संभावना, प्रतिपत्ति, आवश्यक प्रतिपत्ति। प्रत्येक वर्ग के उदाहरण—एक-(राम विद्वान है), समस्त-(सब मनुष्य असर्वज्ञ हैं), असमस्त-(कुछ मनुष्य मूर्ख हैं)। विधि (मनुष्य प्राणी हैं), निषेध-(पत्थर प्राणी नहीं है), पर्य्युदास (ईश्वर अमर है)। स्वतन्त्र (आत्मा अमर है), सापेक्ष (यदि आत्मा अमूर्त है तो अमर है), वैकल्पिक (या आत्मा मूर्त है या अमर है)। संभावना (मनुष्य कदाचित् सौ वर्ष से अधिक भी जी सकते हैं), प्रतिपत्ति (आत्मा अमूर्त है), अवश्यक प्रत्तिपत्ति-(आत्मा को अमूर्त होना ही चाहिए)। इन सब वर्गों में सम्बन्ध मुख्य है। सम्बन्ध ही के विशेष रूप और सब हैं।

इन वर्गों से इतने नियम निकलते हैं। बुद्धि गोचर परिमाणहीन कोई वस्तु नहीं हो सकती। इसलिये परमाणु कोई पदार्थ नहीं है। बुद्धिगोचर कोई पदार्थ निरगुण नहीं हो सकता। इसलिये शून्य वस्तु नहीं है। बुद्धिगोचर कोई वस्तु असंबद्ध नहीं हो सकती। इसलिये दैव, आकस्मिकता, आदि कुछ नहीं है। बुद्धिगोचर भी वस्तुए देश कालाधीन है। इसलिये इन्द्रजाल और आश्चर्य कोई वस्तु नहीं है।

ऊपर कह आए हैं कि सम्बन्ध ही मुख्य वर्ग है, इसी-

के रूपान्तर और सब हैं। इस सम्बन्ध के भी ग्रहण का मुख्य हेतु काल है। काल ही के अधीन परिमाण गुण सम्बन्ध प्रकार चारों वर्ग हैं। काण्ट ने काल के द्वारा सब वर्गों का रूप बड़ी उत्तमता से निकाला है, जिसका यहां उल्लेख विस्तार के भय से नहीं किया जाता है। शुद्ध ज्ञान परीक्षा के द्वितीय भाग में इसका पूर्ण वर्णन मिलेगा।

ज्ञान का तृतीय सोपान बुद्धि के द्वारा ईश्वर, संसार, आत्मा इन वस्तुओं की कल्पना है। बाह्य इन्द्रियों से देश और काल का जो बोध होता है उसीके द्वारा देश काल गोचर सब विषयों को एक कर बुद्धि उस समुदाय का नाम संसार रखती है। स्वय बुद्धि के जो वर्ग हैं उन्हें मिलाकर हम लोग आत्मा शब्द से व्यवहार करते हैं और कारणता को लेकर सबसे अन्तिम कारण को ईश्वर कहते हैं। पर वस्तुतः बुद्धि की पहुंच वहीं तक है जहां तक अनुभवगोचर वस्तु है। अनुभव के ऊपर संसार आत्मा और ईश्वर स्वय क्या है इस विषय को बुद्धि कुछ नहीं कह सकती। सृष्टि-शास्त्र, आत्मशास्त्र और ईश्वरशास्त्र असंभाव्य हैं।

सृष्टि शास्त्रवाले वल्फ आदि ससार को या तो परिच्छिन्न और नश्वर या अपरिच्छिन्न और अनश्वर मान सकते हैं। या संसार परमाणुओं से बना है या मिश्र द्रव्यों से। संसार कारणों से नियत है या कारणनिरपेक्ष है। संसार में या संसार के बाहर कोई सृष्टिकर्ता है।

जैसे उत्तर ध्रुव पर एक ऐसी घास है जिससे मनुष्य अमर हो सकता है। यह यदि कोई कहे तो इसका खण्डन या मण्डन कुछ भी नहीं हो सकता क्योंकि उत्तर ध्रुव तक मनुष्य

की पहुंच नहीं। वैसे ही आत्मा सृष्टि ईश्वर आदि के विषय में मनुष्य कुछ नहीं कह सकता और जो चाहे सो ही कल्पना कर सकता है क्योंकि वस्तुतः मनुष्य की बुद्धि इन विषयों तक पहुंच नहीं सकती।

यदि संसार देश और काल से परिच्छिन्न नहीं है तो अनन्त अंशों के जोड़ने से बना है। इन अनन्त अंशों के जोड़ने में अनन्त काल लगा है पर यह काल तो बीत चुका है और बीता हुआ काल अनन्त कैसे हो सकता है। इसलिये संसार को देश और काल में परिच्छिन्न मानना चाहिए। पर संसार यदि परिच्छिन्न माना जाय तो भी बड़ी दिक्कत है क्योंकि संसार का अर्थ है प्रत्यक्षयोग्य विषयों का समूह और यह यदि परिच्छिन्न है तो इसका परिच्छेदक देश इसके बाहर है और यह देश बाहर का प्रत्यक्षयोग्य विषय नहीं है अर्थात् अमूर्त है। यदि ऐसी बात है तो मूर्त और अमूर्त का सम्बन्ध हुआ जो कि सर्वथा असम्भाव्य है। इन विरोधों से संसार को न तो परिच्छिन्न कह सकते हैं न अपरिच्छिन्न कह सकते हैं।

ऐसे ही यदि संसार को परमाणुओं से बना हुआ मानें तो परमाणु मूर्त है या अमूर्त। यदि मूर्त हैं तो इनका विभाग हो सकता है, यदि अमूर्त हैं तो इनसे मूर्त पदार्थ का आविर्भाव कैसे। क्योंकि असत् से सत् तो हो नहीं सकता। इसलिये परमाणु न मूर्त हैं न अमूर्त हैं अर्थात् परमाणु कोई चीज नहीं है। तो यदि संसार को मिश्र वस्तुओं से बना हुआ माने अर्थात् अवयवियों से बना हुआ माने तो अवयवी को अवयव अवश्य होना चाहिए, इसलिये ये ही अवयव परमाणु

रूप सिद्ध हुए। अब बड़ी सदिग्धता आपड़ी कि परमाणु है या नहीं है।

ऐसे ही प्रत्येक कार्य का नियतपूर्व कारण है या कारण-हीन भी कोई कार्य है। यदि समस्त संसार कारण से नियत है तो कारणों की अवस्था है क्योंकि कोई आदि कारण तो स्वतन्त्र है नहीं और यदि आदि कारण कोई मानें तो वह वस्तु जो सबका आदि है और कुछ काल तक स्वतन्त्र निष्कार्य रह के किसी कार्य को उत्पन्न करती है सो क्यों कार्योत्पादनक्षम हो जाती है, उसमें कार्योत्पादन शक्ति कहां से आ जाती है। इसलिये न आदि कारण मानते ही बनता है न नहीं मानते बनता है।

अब यदि स्वतन्त्र ईश्वर को संसार का कारण मानें तो एक और प्रश्न उठता है कि यह ईश्वर संसार के भीतर है या बाहर। यदि भीतर है तो या आरम्भ में होगा या समस्त संसार स्वरूप ही होगा। पर आरम्भ तो एक क्षण है तो उसके पहिले कोई क्षण था या नहीं। यदि आरम्भ के पहिले भी क्षण था तो आरम्भ को आरम्भ ही नहीं कह सकते। और पहिले क्षण नहीं था यह असंभव मालूम होता है, क्योंकि काल अनादि और अनन्त है। और यदि स्रष्टा को सृष्टि के बाहर मानते हैं तो देश काल भी सृष्टि में अन्तर्गत है इससे स्रष्टा देशकालातीत होता है और ऐसी वस्तु का देश काल से सम्बन्ध नहीं हो सकता और न उससे देशकालावच्छिन्न संसार की सृष्टि हो सकती है।

इस ढंग से सृष्टिवाद के विरोध दिखाए गए। ऐसे ही आत्मवाद और ईश्वरवाद में भी अनुपपत्तियां काण्ट ने

विस्तारपूर्वक दिखाई है जिनको यहां संक्षेप से कहा जाता है।

डेकार्ट ने सिद्ध करना चाहा है कि मैं सोचता हूं, इसलिये मै हूं। पर इससे यह नहीं निकला कि मैं कोई स्वतन्त्र द्रव्य हूं। मैं सोचता हूं इसलिये मैं सोचनेवाला हूं-इस क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त सोचने से और कुछ सिद्ध नहीं होता। इस विज्ञान का आश्रय कोई द्रव्य है या नहीं यह बुद्धि से सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार जब आत्मा क्षणिक विज्ञानरूप है तो आत्मा को शुद्ध असूर्त अमर इत्यादि भी कैसे कहसकते है।

आत्मा और सृष्टि का खण्डन कर बड़े विस्तार से काण्ट ने ईश्वर के प्रमाणों का खण्डन किया। ऐन्सेल्म डेकार्ट आदि ने कहा है कि यदि ईश्वर कोई वस्तु न होता तो ईश्वर का प्रत्यय हृदय मे कैसे आता। पर इसका खण्डन तो गानिलो ने ही किया है। मनुष्य के हृदय में ईश्वर की कल्पना होने से यदि उसकी पारमार्थिक स्थिति मानते हैं तो जितने भिक्षुक संसार मे हैं वे मन मे अशर्फियों की कल्पना कर उनकी वास्तव स्थिति करले और करोड़पति हो जांय। इस ईश्वर का प्रत्ययमूलक प्रमाण (Ontological Proof) असिद्ध हुआ। अब यदि दूसरा कार्य-कारण-भाव मूलक (Cosmological Proof) प्रमाण ले तो भी बड़ी आपत्तियां आती हैं। तार्किकों ने कहा है कि सपूर्ण संसार कार्य है इसलिये इसका कारण कोई अवश्य होगा, क्योंकि प्रथम कारण न मानें जो कि स्वयंभू और नित्य है तो एक का कारण दूसरा, उसका तीसरा ऐसा ही चलता जाय और अनवस्था आ पड़े। पर इन लोगों ने

यह नहीं समझा कि स्वयंभू नित्य अकार्य अविक्रिय ईश्वर का भला कार्य और विकार संबन्ध ही कैसे हो सकता है और यदि उसमे भी विकार मानें तो ईश्वर अनित्य हो जाता है। यदि किसी प्रकार का संबन्ध मान भी लिया जाय तो भी यह कारण प्रकृति या अव्यक्त जडस्वरूप है या कि भक्तों का साकार परमेश्वर है यह निश्चय कैसे हुआ।

अब चलो तीसरा प्रमाण प्रयोजनमूलक (Teleological Proof) लो। इसके अनुसार इस संसार में बिना प्रयोजन कोई वस्तु नहीं देखते। प्राणियों के अङ्ग संसार की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी चीजें सभी किसी प्रयोजन के लिये बनी हुई जान पड़ती हैं। ऐसे सार्थक संसार का कर्ता अवश्य अनन्त ज्ञानवान् और पूर्णबुद्धिमान् है। इस बात को लेकर व्याख्याता लोग और उपदेशक लोग खूब वक्तृताबाज़ी कर जाते हैं और लोगों के चित्त पर इस प्रमाण का बहुत बड़ा असर पड़ता है पर वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह प्रमाण अत्यन्त तुच्छ और सर्वथा असंगत है। भला देखिए तो मनुष्य अनेक कोटि सूर्य चन्द्र आदि से युक्त इस संसार के एक पृथ्वी रूप कण को देखता है। उस संपूर्ण पृथ्वी को भी समस्त भागो मे किसी ने नहीं देखा है। पृथ्वी पर की सब वस्तुओ के स्वभावो का मनुष्य को ज्ञान नहीं है। ऐसी अवस्था मे प्रमेय के एक कण को देख कर अप्रमेय विषयों पर तर्क करना वैसा ही भ्रम है जैसे फल के कीड़े फल के भीतर जैसी व्यवस्था है उसीको समस्त संसार मानते है। और भी देखिए, वैज्ञानिक प्रमाणो से द्रव्य तो अनश्वर है तो उसकी सृष्टि और संहार ईश्वर कैसे कर सकता है। वृक्ष, पर्वत, तारा आदि समस्त जगत् तो

स्वभावसिद्ध तर्कहीन देख पड़ता है तो थोड़े से कृत्रिम घट पट आदि के दृष्टान्त से उन्हे सकर्तृक माना जाय या वृक्षादि दृष्टान्तो से जिन्हे स्वप्न में मनुष्य नहीं बना सकता अकर्तृक माना जाय । इसके अतिरिक्त एक और बात है । प्रयोजन से ईश्वर की सिद्धि करते हो । तुम्हारा प्रयोजन क्या है? वस्तुओ मे समवेतप्रयोजन है या तुम्हारी झक में प्रयोजन सूझ गया इसलिये उसे मानते हो । वस्तुओं में प्रयोजन रह नहीं सकता और झक की बात हो तो उसे मानना ही क्यों ।

इस प्रकार काण्ट ने यह दिखाया है कि संविद्वाद परमाणुवाद ईश्वरवाद आदि सभी दार्शनिक कल्पनाएं असिद्ध है । बाह्य वस्तु अनिर्वचनीय है उसकी प्रमाता आत्मा अनिर्वचनीय है इन दोनें अनिर्वचनीयों का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। इस सम्बन्ध से जो स्वप्नवत् आभास होता है वही संसार इस संसार का परमार्थ क्या है यह नही कह सकते । पर जिसे हम वस्तु और संसार समझते हैं वह केवल बौद्ध विज्ञानरूप है उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है ।

इस प्रकार ज्ञान शक्ति का वर्णन कर काण्ट ने कृति शक्ति का वर्णन अपने 'कृतिशक्ति की परीक्षा' (Critique of Practical Reason) नाम ग्रन्थ में किया है । ज्ञानशक्ति से दार्शनिको ने आत्मा आदि का प्रमाण दिया है सो भी असगत है और नास्तिकों का बाह्य वस्तुवाद भी असंगत है जैसा ऊपर दिखाया गया है। कृतिशक्ति मूलक ईश्वर आदि मे विश्वास मनुष्य का है—इसकी सिद्धि ज्ञानशक्ति के द्वारा नहीं हो सकती ।

प्रकृति के नियम अपरिहार्य हैं उनके उलटा कोई

कार्य हो नहीं सकता । पर आचार के नियम भलाई के लिये आवश्यक हैं, अपरिहार्य नहीं है । कर्तव्य का लङ्घन मनुष्य कर सकता है । केवल लङ्घन अनुचित है, असंभाव्य नहीं है । इसलिये मनुष्य का स्वातन्त्र्य सिद्ध हुआ । ज्ञान शक्ति से इस स्वातन्त्र्य का प्रमाण नहीं दिया जा सकता पर कृतिशक्ति ने स्वभावतः स्वातन्त्र्य सिद्ध किया । मनुष्य धर्म चाहे अधर्म करे, जैसा करेगा वैसा फल पावेगा । प्रकृति के नियम अपरिहार्य हैं पर इनकी गति प्रमेयपर्याप्त है अर्थात् केवल प्रत्यक्षगोचर विषयो ही तक है । अप्रमेय पारमार्थिक वस्तु में प्रकृति के नियमो की गति नहीं है। इस लिये आत्मा स्वतन्त्र है । यह स्वातन्त्र्य अप्राकृत और कृतिशक्ति से निश्चित है । दिक्काल से परिच्छिन्न संसार और हमारे सांसारिक कार्य प्रकृति के नियमों से शृङ्खलित हैं । पर कृतिशक्तिशालिनी आत्मा अप्राकृत और स्वतन्त्र दिक्काल से अपरिच्छिन्न है । यह आत्मा अमर है क्योंकि अपरि-च्छिन्न अप्रमेय का नाश नहीं हो सकता है ।

अपने तीसरे ग्रन्थ में जिसका नाम 'उत्तमता ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Judgment) मे काएट ने यह दिखाया है कि बुद्धिशक्ति से सत् का ज्ञान होता है । प्रकृति का नियम बुद्धिशक्ति का विषय है । उचित की ओर कृतिशक्ति जाती है । स्वातन्त्र्य इसका मुख्य विषय है । उपयोगिता का ज्ञान प्रयोजन ग्राहक शक्ति (Teleological sense) से होता है । सौन्दर्य वह है जो सबको अवश्य अच्छा लगे । इसमें 'सब' परिमाण का अंश है 'अच्छा' गुण का अंश है और 'अवश्य' प्रकार का अंश है । अद्भुत (Sublime) से क्षोभ होता है । सौन्दर्य

(Beauty) से शान्ति होती है। सौन्दर्य का ग्रहण कभी प्रयोजननिरपेक्ष और कभी प्रयोजनसापेक्ष होता है। जिससे कोई कार्य सिद्ध हो उसे लोग अच्छा समझते हैं। पर यह बात नियत नहीं है। कितनी चीजें हैं जिनसे मनुष्य का कार्य नहीं चलता तथापि उसके चित्त के अनुसार ये चीजें बनी है इससे उन्हे वह अच्छा समझता है।

चतुर्थ अध्याय ।
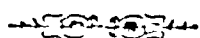
फिक्ट । जर्मनी के चार बड़े दार्शनिकों में से प्रथम काण्ट था, द्वितीय फिक्ट था जिसका दर्शन यहां कहा जाता है । तृतीय सेलिङ्ग और चतुर्थ हेगेल के दर्शन शीघ्र ही लिखे जांयगे । योहान गोटलीब फिक्ट कई स्थानो मे अध्यापक था अन्त में बर्लिन में अध्यापक था जब इसकी मृत्यु हुई । इसका मुख्य ग्रन्थ 'ज्ञान का उपपादन' है ।

फिक्ट् सेलिङ्ग हेगेल ये तीनों यद्यपि काण्ट के परीक्षा-वाद के बाद हुए तथापि परीक्षानिरपेक्ष अपूर्व कल्पना इन लोगों की हुई है जिससे कभी कभी ये लोग कल्पना प्रधान दार्शनिक (Romantic Philosophers) समझे जाते हैं ।

फिक्ट् के अनुसार उत्तमता का ज्ञान अर्थात् विवेक ही आत्मा का स्वरूप है । कृतिशक्ति और विवेक दोनों एक हैं और यही कृतिशक्ति वास्तव सत्ता है । दृश्य संसार असत् है । सर्वव्यापिनी सर्वस्वरूपा कृतिशक्ति का सूचक और अनुमापक यह समस्त जगत् है । इस कृति शक्तिमय विवेक का प्रथम कार्य स्वव्यवस्थापन है । जैसे सब प्रकाश सूर्य से होता है उसके लिये दीपान्तर की अपेक्षा नहीं वैसे ही इस कृतिशक्ति का ग्राहक दूसरा नहीं है । यह स्वप्रमितिक है । केवल स्वप्रमितिक नहीं स्वप्रकृतिक भी है अर्थात् इसका कारण कोई दूसरा नहीं है ।

बुद्धि के तीन कार्य हैं—स्वव्यवस्थापन, विषयोपन्यास और इन दोनों का परस्पर परिच्छेद । वस्तुतः ये तीनों

कार्य व्यवस्थापन विरोध और समावेश (Thesis, Antithesis and Synthesis) एक है। अहंभाव से जब बुद्धि अपने को प्रकाश करती है उसी समय साथ ही साथ अहं भिन्न विषयों का उपन्यास स्वयं हो जाता है। साधारणतः जान पड़ता है कि संसार बाह्य वस्तु है। यह भ्रम दार्शनिकों को भी प्रायः लगा ही रहता है। पर वस्तुतः कृतिशक्ति अपनेको अपने ही से बाधती है और विषयों को पृथक् दिखलाती है। कैसा ही ज्ञानी मनुष्य हो ज्ञान में भी अहं और अनहं का भेद अवश्य रह जाता है। इस भेद का लोप केवल कृतिशक्ति कर सकती है। स्वाधीन ज्ञान विषय के बन्धन से मुक्त होना मनुष्य चाहता है पर इस अवस्था तक पहुंच नहीं सकता। जैसा काण्ट ने कहा है कि वास्तव स्वतन्त्रता कृतिशक्ति को है वही ठीक समझना चाहिए। यही स्वातन्त्र्य परमार्थ सत् है। ज्ञानशक्ति इसी कृतिशक्ति का उपाय स्वरूप है। ज्ञान शक्ति वस्तुतः भिन्न नहीं है, कृतिशक्ति तक पहुंचने की एक सीढ़ी है। परमात्मा फिक्ट के अनुसार कोई पृथक् वस्तु नहीं है। एक ही आत्मा अनेक पुरुषों के रूप में कृतिशक्ति की पूर्णता का प्रकाश कर रही है।

फिक्ट का सर्वोत्तम शिष्य सैलिंग था जिसने अपना एक नया ही दर्शन निकाला। लियन्वर्ग नगर में इसका जन्म था। जेना आदि विश्वविद्यालयों में यह अध्यापक था। फिक्ट और हेगेल इन दोनों बड़े दार्शनिकों से इसकी मैत्री थी।

सेलिङ्ग। सेलिङ्ग ने यह दिखाया है कि फिक्ट के अनुसार संसार आत्मा की स्वाभाविक सृष्टि है। आत्मा स्वयम् है जिससे स्वभावतः संसार का आभास होता है।

पर इसमें यह विरोध पड़ता है कि यदि आत्मा की वेखवरी में स्वभावतः संसार उद्भूत होता है तो आत्मा सृष्टि की अवस्था में अज्ञ हुई और अज्ञ हुई तो आत्मा ही नहीं है। अहं ज्ञान जिसे है वही तो आत्मा है। अज्ञ को आत्मा कैसे कह सकते हैं। आत्मा अनात्मा दोनो परस्पराधीन है। विषयो की स्थिति हो तो उनकी ज्ञाता आत्मा सिद्ध हो और ज्ञाता सिद्ध हो तो उसका ज्ञेय संसार सिद्ध हो। इसलिये आत्मा से अनात्मा हुई या अनात्मा से आत्मा हुई यह कुछ निश्चय नहीं हो सकता।

इसलिये न आत्मा स्वयभू और स्वतन्त्र है, न अनात्मा। यदि स्वयंभू कोई वस्तु है तो वह आत्मा अनात्मा दोनो से भिन्न है। वहां आत्मा अनात्मा का भेद ही नहीं है। अहं और अनहं आत्मा और अनात्मा उभय से भिन्न दोनो का मूल स्वयंभू और स्वतन्त्र है। न आत्मा से अनात्मा हुई जैसा संविद्वादी कहते हैं और न अनात्मा से आत्मा हुई है जैसा नास्तिक कहते हैं। इन दोनो का मूल कूटस्थ दोनों से भिन्न है। आत्मा और अनात्मा ये दो उस मूल तत्त्व के सांसारिक सृष्टि हैं। ज्ञान मे दोनों का संबन्ध अपेक्षित है। न केवल आत्मा को ज्ञान का संभव है, न केवल अनात्मा को। इसलिये दर्शन के दो भाग है आत्म-शास्त्र और प्रकृतिशास्त्र। ज्ञाता और ज्ञेय में परस्पर विरोध नहीं है। दोनों एक ही मूलतत्त्व से आविर्भूत है, इसलिये दोनों एक भाव से चलते हैं। प्रकृति आत्मा ही की छाया है। जैसे जैसे आत्मा चलती है वैसे वैसे प्रकृति चलती है।

संपूर्ण संसार में आत्मशक्ति व्याप्त है। वस्तुतः निर्जीव

कोई वस्तु नहीं है । जड द्रव्य उद्भिज्जो के मूल हैं। उद्भिज्जों से प्राणिओ का आविर्भाव है। मानवमस्तिष्क इस सर्वव्यापिनी जीवशक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है। चुम्बकशक्ति, वैद्युतशक्ति, सवेदनशक्ति ये सब इसी जीवशक्ति के स्वरूप विशेष है । सर्वथा मृत और सर्वथा जड़ कुछ भी नहीं है। हमे देख पड़े या नहीं समस्त ससार सजीव और गतिमय है ।

सवेदन प्रत्यक्ष और चिन्तन ये तीन बुद्धि के कार्य हैं । प्रयत्नावस्था मे यही बुद्धि कृतिशक्ति कही जाती है। उपन्यास विरोध और समावेश बुद्धि के कार्य है । ये ही तीन अवस्थाएं ऐतिहासिक वार्ताओ में भी देखी जाती हैं। संसार में पहिले दैव का उपन्यास हुआ। मनुष्य सर्वथा दैवाधीन थे, स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकते थे। जङ्गलों में दैवाधीन स्वाभाविक वृत्ति से रहते थे। द्वितीय अवस्था विरोधावस्था है जिसे रोमन लोगों ने आरम्भ किया। अपनी कृतिशक्ति से रोमन लोगों ने दैव को दवाना चाहा। यही दैव और पौरुष के विरोध की अवस्था अभी तक चली जाती है। धीरे धीरे तीसरी अवस्था भविष्यत् काल मे आवेगी जिसमें पौरुष और दैव का फिर यथास्थान समावेश और मेल हो जायगा । जैसा पौरुष का उद्देश्य होगा वैसी ही प्रकृति की गति होने लगेगी ।

ज्ञान के द्वारा मनुष्य सर्वकारण ब्रह्म तक पहुंचना चाहता है। पर वैद्युतदण्ड के दोनो ध्रुवों मे जैसा विरोध रहता है वैसे ही ज्ञाता और ज्ञेय, अहं और अनहं का भेद मिटता नहीं है। विज्ञान तक पहुचने से फिर भी ईश्वर ज्ञेय और जीव ज्ञाता रह जाता है। जब तक आनन्दमय

कोष में न पहुंचे तब तक वास्तव कैवल्य नहीं होता। प्रकृति में शिल्प का सौन्दर्य जहां हो उसीके ग्रहण में वास्तव आनन्द और ज्ञाता और ज्ञेय का अभेद होता है। अन्त में बीम आदि धर्मवादिओं के मतों का परिशीलन करते करते शेलिङ्ग सर्वेश्वरवादी से एकेश्वरवादी हो गया। बाइबल आदि भक्तिशास्त्रों में जैसा सगुण त्रिमूर्ति ईश्वर वर्णित है वैसा ही शेलिङ्ग भी मानने लगा। यह अन्तिम दर्शन केवल धर्मवादियों के उपयोग का है शुद्ध दर्शन से इसे कम सम्बन्ध है इसलिये यहां इसका विशेष विवरण नहीं किया जाता।

पञ्चम अध्याय ।
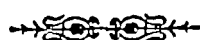
हेगेल । शेलिङ्ग का मित्र जर्मनी के प्रधान दार्शनिकों में से एक हेगेल था । जौर्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिक हेगेल का जन्म स्टटगार्ट नगर में हुआ । अन्त में यह बर्लिन नगर में अध्यापक होकर मरा । तीन ग्रन्थ इस के मुख्य हैं 'प्रमेय शास्त्र' (Phaenomeonology), 'तर्कशास्त्र' (Logic) और 'दार्शनिक तत्त्वों का संग्रह (Encyclopedie der Philosophischen Wissenschaften)। अन्तिम ग्रन्थ संग्रह के अन्तर्गत छोटा तर्क का भाग है । प्रायः हेगेल के सब विषय उसीके पठन से विदित हो सकते हैं ।

फिक्ट के मत से आत्मा ब्रह्म है । पर आत्मा यदि अनात्मा से परिच्छिन्न है तो अस्वतन्त्र हुआ इसलिये उसे ब्रह्म नहीं कह सकते । शेलिङ्ग के मत से ब्रह्म आत्मा और अनात्मा उभय से भिन्न उदासीन है । तो उदासीन से किसी कार्य का उद्भव कभी संभव नहीं है । फिर उस से आत्मा और अनात्मा दोनों कैसे उद्भूत हुए । इसलिये हेगेल ने उपपादन किया है कि आत्मा और अनात्मा दोनों से बाह्य ब्रह्म नहीं है । ब्रह्म के आत्मा और अनात्मा दोनों ही स्वरूप हैं । क्रिया ज्ञान जीवन आदि जिस शक्ति के रूपविशेष हैं वही शक्ति ब्रह्म है ।

मनुष्य की बुद्धि की और प्रकृति की दोनों की नियामिका विवेकशक्ति है । इस विवेक के जो विशेष रूप हैं वेही आन्तर और बाह्य दोनों पदार्थ हैं । मनुष्य के चित्त में जिस क्रम से विवेक के विशेष रूपों का उद्भव होता है वही

क्रम सृष्टि के उद्भव का है। तो जब ब्रह्म संसार ही में समवेत (Immanent) है और सृष्टि का क्रम और विवेकशक्ति के चित्त में आविर्भाव का क्रम एक है तो "ब्रह्म सृष्टि आदि विषय मनुष्य बुद्धि के अविषय हैं', यह जो काण्ट ने कहा है सो सर्वथा असगत है, 'मननैवेदमाप्तव्यम्' यह जो लोग कहते हैं उन्हींका कहना सर्वथा सगत है।

विवेकशक्ति को स्वतन्त्र कार्य करने देना और उसके एक स्वरूप से दूसरा स्वरूप कैसे निकलता है इसका अन्वेषण करना ही मुख्य कार्य दार्शनिकों का है। दार्शनिक लोग इस रीति को आंतर तर्क (Dialectic method) कहते हैं। इस दर्शन को तर्कशास्त्र (Logic) कहते हैं। इस तर्क मे सत्ता शास्त्र और मन.शास्त्र दोनों एक हो जाते हैं क्योंकि मानस शक्ति के स्वरूपो का आविर्भाव उसी क्रम से है जैसा बाह्य वस्तुओ के आविर्भाव का क्रम है।

सब से पहिले चित्त मे सत् का ज्ञान होता है। कुछ है ऐसा सब से पहिला ख्याल है। सत् ही के भेद और सब पदार्थ है। इस सत् मे द्वैत छिपा हुआ है क्योंकि अपरिच्छिन्न सत्ता असत् के तुल्य है। कुछ है, पर क्या है, काला पीला नीला कैसा वह सत् है यह जब तक ज्ञान नहीं है तबतक उस सत् में और असत् मे क्या भेद है। अब यह सत्ता उभयात्मक है। सदसत् दोनो ही उसमे है इसीलिये इन दोनो वस्तुओं का कहीं समावेश होना चाहिए। सत् और असत दोनो विरोधियो का समावेश भाव मे होता है। ससार मे जितने भाव अर्थात् पदार्थ है वे इसी सदसत के रूप है। इसी प्रकार नए नए भेद होते जाते है और उनका किसी

तृतीय वस्तु में समावेश होता जाता है अन्ततः सब भेदों का समावेश चित्स्वरूप स्वतन्त्र परब्रह्म (Absolute Idea) में होता है। हेगेल ने यह दिखलाया है कि विरोध से दार्शनिक को डरना नहीं चाहिए। यह समस्त ससार विरुद्ध गुणमय है। प्रभा का ज्ञान अन्धकार के ज्ञानाधीन, अन्धकार का ज्ञान प्रभा के ज्ञानाधीन है।

सत् और असत् का समावेश होकर भाव बनता है। अर्थात् सत् और असत् दोनों मिल कर परिच्छिन्न सत्ता होती है। परन्तु ये परिच्छिन्न भाव अनन्त असंख्य हैं अर्थात् एक प्रकार से अपरिच्छिन्न है। यह विरोध परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न व्यक्ति मे मिल जाता है। व्यक्ति दोनों ही है परिच्छिन्न भी और अपरिच्छिन्न भी। व्यक्ति वस्तुतः अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न रूप से आविर्भाव है और परिच्छिन्न सर्वथा अपरिच्छिन्न से भिन्न नहीं है क्योंकि भिन्न होता तो दोनें ही परस्परबहिर्भूत होने के कारण परिच्छिन्न ही हो जाते। इस प्रकार सत्ता जो शुद्ध गुण है परिच्छिन्न व्यक्ति होकर परिमाण स्वरूप हो गई।

यही परिमाण द्रव्य का मूल है। सत् अव्यक्त है। द्रव्य उसीका विकसित रूप है जिसका ग्रहण शीघ्र हो सकता है। द्रव्य के स्वरूपो मे परस्पर संबन्ध है। इसलिये द्वन्द्व रूप से द्रव्य का विकास हुआ। द्रव्य और दृश्य, शक्ति और प्रकाश, तन्मात्र और आकार, मूल और गुण, कारण और कार्य आदि द्रव्य के स्वरूप है। द्रव्य और गुण दोनें सहचारी है। एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकता। वस्तुतः द्रव्य और गुण एक ही है। गुणों को निकाल दीजिए तो

द्रव्य कुछ बचे ही गा नहीं । द्रव्य गुण आदि के द्वन्द्व जो ऊपर कह आए हैं इन्हीं का मेल प्रकृति है । प्रकृति का अर्थ है क्रियाशक्ति या सृष्टिशक्ति । इसी प्रकृति से सब वस्तुएं उत्पन्न होती हैं और लय इसीमें फिर लीन होती हैं । पुनः पुनः यही उत्पत्ति और लय होता रहता है । शान्ति और स्थिरता कूटस्थता और उदासीनता भ्रममात्र है । क्रिया शक्ति पारमार्थिक है । निष्क्रिय कोई पदार्थ नहीं है । सत्ता और क्रिया दोनों का एकही आकार है । जो सत् है सो सक्रिय है, जो सक्रिय है सो सत् है ।

अपने दृश्य रूपो से अतिरिक्त कोई मूल द्रव्य नहीं है । इसलिये संसार से अतिरिक्त ईश्वर और मानस शक्तियों से अतिरिक्त आत्मा तथा गुणों से अतिरिक्त द्रव्य नहीं मानना चाहिए । धार्मिकों का उदासीन ईश्वर, तार्किकों की आत्मा और वैज्ञानिकों का द्रव्य सर्वथा भ्रममूलक है । कार्य और कारण दोनों एक हैं । सत्कार्यवाद ही सिद्धान्त है । इसलिये द्रव्य और गुण एक हैं । गुण और गुणी में वास्तव भेद नहीं है क्योंकि गुणी गुणों का कारण है । कार्य और कारण एक हैं यहां तक कि मृत्तिका का कारण घट है या घट का कारण मृत्तिका है यह भेद करना व्यर्थ है, दोनों परस्पराश्रित और अभिन्न हैं । यदि कार्य न हो तो कारण में कारणता ही नहीं आवे और यदि कारण न हो तो कार्य न हो, इसलिये कार्य कारण वस्तुतः एक हैं । वर्षा से पानी आता है, वही पानी फिर सूख कर सूर्य्य किरणों के द्वारा आकाश में मेघ रूप होता है और फिर बरसता है । इसलिये वर्षा का कारण पानी है और पानी का कारण

वर्षा है, अर्थात् दोनों एक हैं यही कहना उचित है। इसलिये ब्रह्म कार्यरूप है वा कारणरूप है यह अन्वेषण व्यर्थ है ब्रह्म तो उभय रूप है क्योंकि कार्य और कारण में भेद ही नहीं है। एक सत्ताशक्ति सबके पहिले सर्वशक्ति-विशिष्ट थी जिससे अल्पशक्तिविशिष्ट सांसारिक पदार्थ हुए हैं यह समझना भ्रम है। शक्ति तो एक ही है। अनेक शक्ति कार्य और एक शक्ति इनका कारण यह भेद समझना ही भ्रम है।

यह समष्टि (जिसमें कार्य कारण सब एक हैं) दो स्वरूपों में विभक्त है, एक आन्तर समष्टि और दूसरी बाह्य समष्टि। आन्तर समष्टि का यह कार्य है जिससे एक सामान्य गुण प्रति व्यक्ति मे मनुष्य लगाता है। व्यक्ति और जाति के ऐक्य का ग्रहण इसी समष्टि से होता है। यह जन्तु गाय है ऐसा जब हम कहते हैं तो 'यह एक जन्तु-विशेष व्यक्ति है और गाय सामान्य जाति है' इन दोनों का अभेद कैसे हुआ। यह अभेद आन्तर समष्टि का कार्य है।

आन्तर समष्टि का स्वभाव है बाह्य आकार धारण करना। इसलिये जो ख्याल मनुष्य के चित्त में आता है वैसा बाह्य वस्तु का आविर्भाव होता है। पहिले एक मकान का नकशा चित्त में मनुष्य खींचता है फिर उसी अनुसार बाह्य समष्टि उसे आन्तर समष्टि के आकार का बनाती है। संपूर्ण संसार आन्तर समष्टि का अवतार या बाह्य आविर्भाव है।

सामान्य विशेष और व्यक्ति ये तीन रूप आन्तर समष्टि के हैं। गाय सामान्य है। यह जन्तु विशेष है। यह गाय

दोनो का ऐक्य अर्थात व्यक्ति है। इन तीन पदार्थों का (सामान्य विशेष और व्यक्ति) वाह्य आविर्भाव क्रमश: संयोग, समवाय और जीवन (Mechanism, Chemism and Organism) इन तीन रूपो में होता है।

जैसे प्रत्यय आन्तर है पर उसका धर्म है मूर्त होना वैसे ही मूर्त वस्तु का धर्म है प्रत्यय रूप मे चित्त मे आना। यह जो आन्तर और वाह्य का भेद है अर्थात मूर्त और अमूर्त का भेद है सो अपरिच्छिन्न तुरीय प्रत्यय मे जाकर मिल जाता है जिसे सच्चित्स्वरूप स्वतन्त्र सत्ता का परम स्वरूप कहते है। यहां पहुंचने पर फिर और कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता। आत्मबोध आत्मारामत्व यहां ही मिल जाता है।

जैसे सत् उभयात्मक है अर्थात् असत् और सत् दोनो का ऐक्य है जैसा कि ऊपर दिखा चुके है वैसे ही वाह्य समष्टि में आकाश है। सब वस्तु आकाश मे है इससे यह सत् है पर कोई विशेष गुण इसके नही जान पड़ते इसलिये इसे लोग शून्य अर्थात् असत् कहते है। यही शून्य जो विशेष रूप के अभाव के कारण असत् है और सब का अधिकरण होने के कारण सत् है यही गति का मूल है। इसी गति से पृथक् सूर्यचन्द्र आदि व्यक्तियो का आविर्भाव हुआ। आकर्षण शक्ति इस गति ही का स्वरूप है। इसी आकर्षण के कारण संसार एक और परस्पर संबद्ध है नहीं तो प्रत्येक परमाणु पृथक् हो जाते और ससार का पता नहीं लगता। अपरिच्छिन्न द्रव्य से परिच्छिन्न सूर्य आदि हुए। परिच्छेद का मूल गुरुत्व है। गुरुत्वविशिष्ट ताराओ में

परस्पर आकर्षण के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है। गुरुत्वप्रयुक्त परिमाणभेद के बाद द्रव्यों में गुणभेद उत्पन्न होता है। द्रव्यों में परस्पर संयोग और वियोग, मैत्री और विरोध आदि के कारण प्रभा उष्णता वैद्युतशक्ति आदि गुण उद्भूत होते हैं। आकर्षण से केवल बाह्य परिवर्तन होते थे अब गुणभेद होने से द्रव्य के अभ्यन्तर तक परिवर्तन होने लगा। इस शास्त्र में अम्लजनक और जलजनक के सम्बन्ध से सर्वथा भिन्न गुण का जल उत्पन्न होने का वर्णन इस आन्तर सम्बन्ध का एक उदाहरण है।

इसी आन्तर सम्बन्ध का दूसरा रूप जीवनशक्ति है। जो सम्बन्ध पहिले आकर्षण रूप से प्रकाशित हुआ था वही रसों मे आन्तर संमिलनशक्ति हुआ और वही प्राणियों में प्राणशक्ति है। पार्थिव शक्ति से वृक्ष का अङ्कुर उत्पन्न होता है उस अङ्कुर से अन्न के द्वारा वही सर्वव्यापिनी शक्ति प्राणियों मे आती है। यही प्राणशक्ति क्रम से छोटे जन्तुओं के रूप मे प्रगट होकर शुक्ति, कीट, मत्स्य, सरीसृप, जरायुज आदि परम्परा से अन्ततः मनुष्य रूप से प्रकट होती है। आधिभौतिक सृष्टि मे मनुष्य का शरीर सर्वोत्तम है। अब यहां से आध्यात्मिक सृष्टि की ओर चलना चाहिए।

मनुष्य के चित्त का स्वातन्त्र्य और ज्ञान दो धर्म है। पहिले जङ्गली अवस्था में मनुष्य को ज्ञान भी पूर्ण रूप से नहीं रहता और स्वातन्त्र्य सब अपना ही अपना चाहते है। धीरे धीरे और मनुष्यों के भी स्वातन्त्र्य की दृष्टि मनुष्य को होने लगती है और सामाजिक जीवन का आरम्भ होता है जिससे स्वार्थ की दृष्टि घटने लगती है। काम

क्रोध मय जीवन पसन्द नहीं आता और सब समाज की भलाई पर दृष्टि होने लगती है ।

पहिले काम क्रोध आदि जो नियमहीन थे अब उन का दमन मनुष्य करता है । अपने नियमों में लाकर उनसे कार्य लेना आरम्भ करता है । विवाह से काम का दमन, और नैतिक दण्डो से क्रोध का दमन होता है । नियम सामाजिक जीवन का प्रधान स्वरूप है । औचित्य नियम का प्रथम आविर्भाव है । प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वत्व है जिसे वह चाहे अपने लिये रख सकता है या किसी दूसरे को दे सकता है । जब समाज की इच्छा के प्रतिकूल कोई व्यक्ति चलता है उस समय औचित्य और अनौचित्य दोनो के रूप स्पष्ट होते है । यद्यपि कभी कभी अनुचित विषयो का प्रचार हो जाता है तथापि सामाजिक दण्ड उसका अवश्य होता है और अन्ततः उचित का विजय होता है। दण्ड उदाहरण स्वरूप है इसका उद्देश्य केवल व्यक्ति का संशोधन नहीं है किन्तु समस्त समाज में वह उचित के बोध का फल दिखलाता है । परन्तु जब मनुष्य के हृदय में उचितानुचित का विवेक होने लगे तब समाज की दशा अच्छी समझनी चाहिए । केवल दण्ड के भय से अनुचित का परिहार हुआ तो क्या हुआ ।

हेगेल के अनुसार विवाह अर्थात् गृहस्थाश्रम समाज और राज्य के मङ्गल का मूल है । कुटुम्ब के जीवन के बाद राज्य का आरम्भ होता है । राज्य एक बड़ा कुटुम्ब है जिसमें समस्त की भलाई की ओर दृष्टि रहती है । व्यक्तिगत भलाई का न ख्याल कर समस्त की भलाई राज्य ही में सम्भव है।

जो राज्य औचित्य का अनुसरण करता है उसीका विजय होता है। अनुचित के अनुसरण करनेवाले का पराजय होता है।

पर कितनी भी उन्नति कुटुम्ब में समाज में या राज्य में हो अन्तिम उद्देश्य और पूर्ण शान्ति मनुष्य की इन विषयों से सिद्ध नहीं होती। कला, विज्ञान और धर्म ये तीन स्वच्छन्द विषय चित्त की वास्तव शान्ति के लिये हैं। कुटुम्ब समाज और राज्य ये सब यहां पहुंचने की सीढ़ियां हैं। प्रकृति का स्वभाव है कि जिन सीढ़ियों से अन्तिम उद्देश्य का लाभ होता है वे सीढियां भी सुरक्षित रहती हैं उनसे फिर भी कार्य रहता है। इसलिये कुटुम्ब आदि की रक्षा करते हुए मनुष्य को कला धर्म और विज्ञान इन तीनों पुरुषार्थों की भी सिद्धि करनी चाहिए।

मनुष्य का चित्त पहिले स्वार्थ पर था उसके बाद सामाजिक बुद्धि का आविर्भाव हुआ जिसमें स्वार्थ और परार्थ दोनों का ख्याल होने लगा, फिर अन्ततः अपने में लौट कर सौन्दर्य, ईश्वर और सत्य में (अर्थात् सच्चिदानन्द-मय ईश्वर मे) मिलकर आत्माराम होता है और परम सुखी और स्वतन्त्र हो जाता है।

इस अवस्था में भी क्रम है। स्वातन्त्र्य की पहिली सीढी कला है। कला के आनन्द में वह रस उत्पन्न होता है जिसे महा कवि ही लोग जानते हैं। इसमें स्वर्ग पृथ्वी पर आ जाता है और चित्त स्वर्ग को चढ़ जाता है। अब धर्म का उद्भव होता है। जिसकी कला ने जिस सर्वव्यापी ईश्वर की आनन्दमयी छाया दिखलाई थी उसीका और

स्पष्ट भास होने लगता है। वह अनन्त अप्रमेय अप्राप्य ईश्वर संसार के ऊपर वर्तमान नजर आने लगता है जिसे संसार में वद्ध आत्मा पहुंचना चाहती है पर वन्धन के कारण पूरा पहुंच नहीं सकती। अभी परिच्छिन्न प्रमेय और अपरिच्छिन्न अप्रमेय अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद वना रहता है पर धर्म से वहुत सामीप्य ईश्वर और जीव को हो जाता है और शीघ्र ज्ञान का आविर्भाव होता है। जिसकी छाया मात्र कला और धर्म ने दिखलाई थी वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुंचता है, सव भेद नष्ट हो जाते है और जीव देवभाव को प्राप्त होता है। इस अवस्था में व्यक्ति समाज राज्य साम्राज्य सभी ज्ञानमय देख पड़ते हैं, सव भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत स्वप्रमितिक ज्ञान ही केवल सव रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है। पारतन्त्र्य पारवश्य सव निकल जाता है।

मूर्त द्रव्य को चित्तानुसारी वनाने वाली कला है। मूर्त द्रव्य छपटाता है रोकता है तथापि चित्त अवश्य अपनी मोहर उस पर दे वैठता है द्रव्य और चित्त के विरोध के कारण कला के अनेक भेद हैं।

सव से मोटी गृहनिर्माण की कला है। जैसे सूर्य चन्द्र आदि तारकमय लोक संसार में प्रथम उत्पन्न हुए है वैसे ही कला में प्रथम मन्दिर मस्जिद गिर्जाघर आदि है। ये केवल चिन्ह हैं। जिस अनन्त अप्रमेय को ये प्रकाश करना चाहते हैं उन का पूर्ण प्रकाश नहीं कर सकते। ये मिट्टी पत्थर आदि अत्यन्त मोटी चीजों के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म परमेश्वर की महिमा को प्रकाश करना चाहते हैं। इसके वाद मूर्तियों

का निर्माण होता है । मूर्तियों में भी पत्थर पीतल आदि मोटी ही चीजों को उपयोग में लाते हैं पर जिस वस्तु को मूर्ति से प्रकाश करना चाहते हैं उसके प्रकाशन का मन्दिर आदि से मूर्तियों में अधिक सामर्थ्य है। चित्र की कला इसके बाद आती है। इसमें मूर्त द्रव्य का घनत्व निकाल कर केवल समतल पर अक्षिगत ज्ञान का पूर्ण रूप दिखलाते हैं तथापि मूर्त द्रव्य से ही चित्र भी बनते हैं इसलिये अभी ज्ञान का स्वातन्त्र्य कला में प्रकाशित नहीं हुआ। गृह निर्माण, मूर्ति और चित्र ये सब बाह्य कलाएं हैं । अन्त में अचाक्षुष शब्दब्रह्म का नादविद्या में आविर्भाव होता है जहां मूर्त द्रव्य से सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। नादविद्या आध्यात्मिक कला है जिससे सब आन्तर भावों का प्रकाश हो सकता है। अन्ततः मूर्त अमूर्त सब भेदों को मिटाने वाली रसमय कविता का आविर्भाव होता है जिसमें मूर्त पदार्थ और शब्दब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। यह कविता कलाओ की कला और विद्याओं की विद्या है।

कविता वह कला है जो सबका वर्णन कर सकती है सबकी नई सृष्टि कर सकती है अर्थात् यह विश्वव्यापिनी विश्वरूपिणी विद्या है। वास्तुविद्या से ताराओं के ऊपर जो शासनकर्ता ईश्वर है उसका सूचन मात्र होता है। मूर्तिरूप से वही ईश्वर पृथ्वी पर पहुंचाया जाता है। नाद विद्या से ईश्वर भाव में स्थिर होता है। कविता के द्वारा वही ईश्वर अनन्त अप्रमेय प्रकृति और इतिहास में निवेशित होता है । ईश्वर के तुल्य कविता सर्वशक्तिमती और शाश्वत है ।

वास्तुविद्या और नादविद्या ईश्वर को संसार से पृथक् एक स्थान में कहीं सूचित करती हैं इसलिये भक्ति मार्ग की सहचारिणी हैं। मूर्तिविद्या आलेख्यविद्या और कविता ये सर्वव्यापी सर्वस्वरूप ज्ञानमय ईश्वर को बतलाती है और ज्ञान मार्ग की सहचारिणी हैं। इसीलिये पूरब के ज्ञानियो मे मूर्तिपूजा प्रचलित है। महा कवि लोग भी ज्ञानी हैं, किसी एक विशेष द्वैतवादी धर्म के अनुगामी नहीं हैं। कविता में जीव और ब्रह्म का वास्तव ऐक्य हो जाता है और धर्माधर्म का भेद मिट जाता है। कविता सर्वकला-स्वरूप सर्वकला-सारांश है। कविता में मन्दिरों की सृष्टि हो जाती है मूर्तियां खड़ी हो जाती है नकशे खिंच जाते हैं चित्र निकल आते हैं। जैसे नाइल नदी के किनारे बड़े बड़े पिरेमिड़ खड़े है वैसे कविता नदी के तीर पर ऐतिहासिक ग्रन्थ (रामायण भारत आदि) खड़े है। भावगर्भ (मेघदूत आदि) की कविता नादविद्या सी है। जैसे वाद्य ऐतिहासिक चित्र (भारत आदि में) है वैसे ही भावगर्भ काव्य मन के विकारों के उद्रेक है। ये दोनों अपूर्ण एकांशपरक हैं। दोनों की मेल और पूर्णता नाटक मे होती है। नाटकों में इतिहास और भाव दोनों ही मिलित है।

कला के इतिहास में तीन भाग है। पहिले पूर्व के देशों मे (भारत आदि में) कला का उद्भव हुआ। यहां आकार की पूर्णता पर कम ध्यान रहा। हास्यजनक अत्युक्तिमय अति विशाल मन्दिर चित्र आदि यहां बने जिनका अर्थ स्वयं स्पष्ट नहीं है, बड़े परिश्रम से समझ में आता है। यहां अप्रमेय अपरिच्छिन्न की ओर अधिक ध्यान

रहा। मूर्त साकार सौन्दर्यमय कला का आविर्भाव ग्रीस देश मे हुआ जहां की मूर्तियो का सौन्दर्य आज तक अतुलित है। अन्ततः खीष्ट मतानुगामियो मे चित्र विद्या की पूर्णता की ओर अधिक ध्यान हुआ और इटली के चित्र जगद्विदित हैं।

इतना तो कला के विषय में हुआ। अब कला से धर्म को क्या सम्वन्ध है सो देखना चाहिए। कलावान् यद्यपि कभी रसमान हो कर संसार को भूल कर ईश्वर से अभिन्न अपने को समझने लगता है तथापि अपने ख्यालों को जब बाहर लाना चाहता है तब अपनी अशक्ति स्वयं समझने लगता है और अशक्त होकर मूर्ति आदि में ईश्वर का विन्यास कर भक्तिमार्ग का अवलम्बन करता है। प्रतिमोपासन कला और धर्म के मध्य की शृङ्खला है। यहीं से धर्म और भक्ति का आरम्भ होता है। कितने धर्म मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं। पर धर्म का तो सारांश ही साकारवाद है। मूर्तिपूजा रहित धर्म भी ईश्वर को चित्त में समझने का उपदेश करते हैं। चित्त में ईश्वर को लाना उसे साकार बना देना है क्योंकि निराकार का तो ध्यान भी नहीं हो सकता। इसलिये किसी धर्म मे द्वैत नहीं जाता। जीव की क्षुद्रता और ईश्वर की महामहिमता पृथक् बनी रहती है।

पहिले पूरब के धर्मों में सृष्टि-स्थिति-संहारकारी एक ईश्वर का ज्ञान हुआ। मनुष्य ईश्वर के सामने कुछ नहीं रहा फिर ग्रीस मे मनुष्य ही सब कुछ समझा जाता था, ईश्वर पीछे पड गया। इस अवस्था के बाद अवतारवाद

आया जिससे प्रभावशाली मनुष्यों को लोग ईश्वर का अवतार समझने लगे याने ईश्वर और मनुष्य दोनों का ऐक्य हुआ। खीष्ट धर्म इसी अवस्था में पड़ा हुआ है। खीष्ट को ईश्वर का अवतार समझते हैं। पर इन अपूर्ण अवस्थाओं के बाद इनसे उत्तम ज्ञानावस्था है जिसमें पहुंचने पर जीव स्वतन्त्र चित्स्वरूप अद्वैत आत्मज्ञानमय हो जाता है और सब भेद मिट जाते हैं।

जैसे ज्ञान में पहिले सत् फिर भाव आदि क्रम से स्वतन्त्र आत्मज्ञान का आविर्भाव होता है वैसे ही दर्शन के इतिहास में भी देखने मे आता है। पहिले पार्मेनिडीज़ ने सत् का अवलम्बन किया फिर हेरेक्लिटस का भाव आया। इसी क्रम से अन्ततः आज आत्मज्ञान की स्वतन्त्र अवस्था आ पहुंची है।

वस्तुतः दर्शन के इतिहास की समाप्ति हेगेल से है। ऐसा पूर्ण और स्वतन्त्र विचार का दार्शनिक न पहिले हुआ न अब होगा। हेगेल के अनुगामी रोजेक्रेञ्ज, फिस्कर, अर्डमान आदि जर्मनी में और ग्रीन, स्टर्लिंड, ब्रेड्ले केअर्ड आदि इङ्गलैण्ड में और वीरा आदि देशान्तरो में हुए। हेगेल के बाद जर्मनी में या देशान्तरो में स्वतन्त्र दार्शिनिक विचार बहुत कम हुए हैं तथापि हेगेल को मरे आज पंचहत्तर छिहत्तर बरस हुए और इस बीच वैज्ञानिक विषयो के आविष्कार के साथ ही साथ कुछ तो नए दार्शनिक विषय भी सोपेनहावर हर्बार्ट कौम्ट मिलडार्विन स्पेन्सर लाज आदि दार्शनिकों के विचार से निकले ही है इसलिये हेगेल के उत्तरभावी दार्शनिकों का कुछ वृत्तान्त यहां दिया जाता है।

षष्ठ अध्याय।

सोपेनहावर। आर्थर सोपेनहावर अपने को काण्ट और भारतीय दर्शन का अनुगामी समझता है। इसका जन्म जर्मनी के डैंजिक नगर में हुआ। प्लेटो के अतिरिक्त दार्शनिकों में कदाचित् सोपेनहावर के बराबर लेखशैली की उत्तमता रखने वाला और कोई नहीं है। इसका जीवन भी अपूर्व और स्वतन्त्र ही ढङ्ग का था। इसने काण्ट प्लेटो और बुद्ध के दर्शनों का विशेष श्रम से अभ्यास किया था। इसका मुख्य ग्रन्थ 'संसार इच्छा और संवित्स्वरूप' (Die Welt als Wille und Vorstellung) है। हेगेल की इसने बड़ी निन्दा की है और काण्ट की प्रशंसा की है।

संसार पारमार्थिक रूप में स्वतन्त्र हमारी इच्छा और ज्ञान के अपराधीन है। यदि हमारी इन्द्रियां दूसरी रचना की होती तो संसार दूसरे ही प्रकार का मालूम होता। यह बात सत्य है तथापि अनुभवरूप दृश्य संसार हो हमारे अधीन है। इस अनुभव का प्रयोजक पारमार्थिक वस्तु हमारे चित्त के अधीन नहीं है। काण्ट ने इस स्वतन्त्र पारमार्थिक वस्तु को माना है। पर इसे ज्ञान का अविषय तथा कार्य-कारण-भावादि संबन्ध से बाह्य काण्ट ने माना है इसलिये उसका मानना न मानना एकही है। जब इस वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो सकता तो काण्ट के मत से प्रमाता के अतिरिक्त ओर कुछ है ही नहीं ऐसा ही कहना ठीक है।

यहां ज्ञान का प्रयोजक बाह्य वस्तु है इसमें किसी को संदेह नहीं है इसलिये बाह्य वस्तु का अभाव नहीं कहा जा सकता। कैसी वह बाह्य वस्तु है इतना ही मात्र नहीं कह सकते। पर यदि गम्भीर विचार किया जाय तो संभव है कि हमारा अनुभव बाह्य वस्तु का प्रतिबिम्ब हो क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक सर्वथा विसदृश हों यह संभव नहीं है। यदि प्रमाता केवल प्रमाता ही होता तो उसे प्रमेय-प्रयोजक पारमार्थिक सत्ता कैसी है यह ज्ञान होना असंभव होता। पर प्रमाता स्वयं प्रमेय भी है। जैसे अनुभव-प्रयोजक और वस्तु हैं वैसे ही स्वयं प्रमाता भी एक उनमें से है। इसलिये काण्ट के परीक्षावाद से जो प्रमाता और प्रमेय का सर्वथा भेद पड़ा था वह निकल गया। फल यह हुआ कि जैसे मैं स्वयं अपने ज्ञान का प्रयोजक अर्थात् एक प्रमेय हूं वैसे ही मेरे सदृश प्रायः और भी प्रमेय होंगे।

इसलिये प्रमाता का क्या पारमार्थिक स्वरूप है उसका वास्तव स्वभाव क्या है यह यदि निश्चय हो जाय तो केवल प्रमाता ही का नहीं प्रमाता और प्रमेय दोनों ही का स्वभाव निश्चित हो सके। डेकार्ट, स्पाइनोजा, लीब्निज, बर्कले, हेगेल आदि संविद्वादियों के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। इसलिये लीब्निज हेगेल आदि ने सब वस्तुओं में ज्ञान माना है पर यह अनुभव के विरुद्ध है। शरीर ही में कितने कार्य रुधिर प्रचार आदि के होते रहते है जिनका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। जड़चेतन का भेद प्रसिद्ध है। जड़ो में ज्ञान का अभाव है। केवल इच्छा (Will) सब वस्तुओं में देखने में आती है। जड़ो में भी एक परमाणु

की दूसरे परमाणु की ओर प्रवृत्ति है। यही जगत् की गति का कारण है। इसी इच्छा के कारण एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से मिलता है। यह इच्छा कभी ज्ञान पूर्वक होती है कभी ज्ञान से रहित होती है। अधिक प्रभा पड़ने पर आंख अनिच्छया भी मूंदी जाती है, कभी ज्ञान पूर्वक इच्छा से भी मूंदी जाती है। ज्ञानपूर्वक यदि इच्छा हो तो इसका बल बड़ा भारी है। हबशी कितने समझबूझ कर सांस अपने आप ही रोक कर आत्मघात कर लेते हैं। (प्राचीन समय में स्त्रियां पति के मरने पर इसी प्रकार आत्मघात कर लेती थीं)। इच्छा ज्ञान पूर्वक होने से स्वतन्त्र इच्छा कही जाती है। पर यह इच्छा ज्ञान पूर्वक हो वा अज्ञान पूर्वक हो यह सभी रूपों में एक है। शरीर और बुद्धि थक जाते हैं पर इच्छा निद्रावस्था में भी जागती रहती है। इसी इच्छा से स्वप्न होते हैं। यह अविश्रान्त और शाश्वत है। शरीर के भी पहिले से यह इच्छा थी। शरीर तो इच्छा ही का फल है। जैसी आत्मा की इच्छा होती आई है वैसे परिवर्तन शरीर में होते आए हैं। इच्छानुसार शरीर की सृष्टि है, यह बात भिन्न जन्तुओं की शरीर रचना देखने ही से स्पष्ट हो जाती है। सींग होने के कारण बैल या बकरा ढब्बा मारता है यह बात नहीं है। सींग होने के पहिले ही से ये जन्तु सिर से ढब्बा मारते हैं इसीलिये इनमें सींग निकले हैं। गर्भ में जिस अंश से देखने की इच्छा होती है वही आंख रूप से परिणत हो जाता है जिससे श्वास लेने की इच्छा होती है वे अंश फेफड़े हो जाते हैं ऐसे ही और इन्द्रियां भी उत्पन्न होती हैं। जो पक्षी शिकार करते हैं उन्हें बड़े चंगुल

आदि होते हैं, जो सरीसृपों को खाते हैं उन्हें लम्बे ठोर होते हैं, जो जन्तु भागते है उन के पैर तेज और पतले होते हैं, जो छिप कर रहना चाहते हैं उनके रग वैसे ही होते है जैसी जगहों में और जिन चीजो में वे छिपना चाहते हैं। इन सब उदाहरणो में होने की इच्छा (Will to be) देखी जाती है। जहा किसी प्रकार कार्य नहीं चलता वहां इच्छा बुद्धि से अपनी रक्षा करती है। मनुष्यों में इच्छा का अस्त्र बुद्धि है। बुद्धि से यहां तक होता है कि इच्छा का वास्तव रूप छिप जाता है और शत्रु को पता नहीं लगता कि किस इच्छा से कौन व्यक्ति प्रवृत्त है इसलिये इच्छा का ब्रह्मास्त्र बुद्धि है, इससे इसका बहुत कार्य सिद्ध होता है।

यह इच्छा प्राणियो में नहीं जड़ों में भी देखी जाती है। बीज चाहे जिस प्रकार बोया जाय चाहे उसकी जड नीचे रहे या मुह या बगल, वृक्ष की जड तरावट चाहती है इसलिये सोर नीचे को जायेगे और अग्रभाग रोशनी चाहते हैं इसलिये ऊपर को जायंगे। कितने पौधे पत्थर और ईंट फोड़ कर प्रकाश में पहुंचते हैं, दूरसे प्रतान फेक कर लता अपने आश्रय को खोज लेती हैं। बीच की सृष्टि मे इच्छा नियत रूप से है। किस वृक्ष का किस जन्तु का क्या स्वभाव है यह स्पष्ट जाना जा सकता है। केवल खनिज में और मनुष्य मे अर्थात् अत्यन्त जड़ और अत्यन्त बुद्धिमान् जो सृष्टि के दो अन्त है इन्हीं की इच्छा शक्ति का नियत रूप नहीं है। व्याघ्र सर्वदा हिंस्र, मृग अहिंस्र शान्तिप्रिय होता है। कोई वृक्ष सूखी जगह कोई ठण्ढी जगह होते है। पर मनुष्य कौन देश में हिंस्र कहां अहिंस्र, किस देश को चाहनेवाला

किस को न चाहनेवाला होगा इत्यादि जानना वैसा ही असंभव है जैसा कि खनिज वस्तुओं की पूर्ण प्रवृत्ति जानना है। तथापि चुम्बक लोहे की सूई सदा उत्तर की ओर बतलाती है मूर्तपदार्थ पृथ्वी के केन्द्र की ओर गिरते हैं। कितने द्रव्य उष्ण से पसरते हैं शीत से संकुचित होते हैं इत्यादि जड़ वस्तुओं की भी प्रवृत्ति अभ्यास करते करते निश्चित हो गई है। वैसे ही परीक्षा से मनुष्यों के चित्त के भी प्रवृत्ति के नियम कितने निकले हैं कितने और निकल सकते हैं।

इसलिये इच्छा सर्वव्यापिनी है। सब की स्थिति का मूल है। यह कोई पुरुष या व्यक्ति नहीं है यह एक अचेतन। शक्ति है जिससे देशकालगत सब चीजें बनी हैं। स्वयं यह न दिक् से न काल से परिच्छिन्न या संबद्ध है। यह प्रमेय भी नहीं है। जड़पदार्थों से लेकर मनुष्य तक एक से एक उत्तम वस्तुएं हैं। इनके रूप से प्रत्ययों के अनुसार इच्छा अपने को प्रकट करती है। ये सामान्य प्रत्यय (अर्थात् जाति) शाश्वत दिक्कालानवच्छिन्न हैं जैसा प्लेटो ने दिखलाया है। इनमें क्रम है। एक प्रत्यय या ख्याल से दूसरा उत्तम है उस से और तीसरा इत्यादि। छोटे ख्याल ऊंचे ख्याल को रोकना चाहते हैं। पर जहां तक नीचे ख्याल को ऊंचा ख्याल रोक सके उतना ही उसकी पूर्णता और उसका सौन्दर्य अधिक समझना चाहिए।

यही इच्छा संसार का मूल है (अर्थात् रजोगुण है)। जब तक इच्छा (या काम) रहेगी तब तक संसार है। जैसे ज्ञान (अर्थात् सत्ता) शाश्वत है जिसके अनुसार संसार

की सृष्टि है वैसे ही सृष्टिशक्ति अर्थात् काम (या रजो-गुण) भी शाश्वत है । व्यक्तियों का परिवर्तन होता है। पर इन सामान्य गुणों का नहीं । कितने लोग आत्मघात कर लेते हैं और समझते हैं कि मरने से संसार से छुटकारा हो जायगा पर यह भ्रम है क्योंकि काम जब तक है तब तक संसार से छुटकारा कहां । यह कष्टमय संसार इसी काम या रज का कार्य है। यहां बली जन्तु निर्बल को सर्वदा पीड़ा देने में तत्पर है । इतिहासों में लूटमार असत्य छल भरा हुआ है । श्रम नियम प्रेम मितव्यय आदि जो मनुष्य के धर्म कहे जाते हैं ये केवल अहंकार मूलक हैं । करुणा या वात्सल्य (अर्थात् अहिंसा) बौद्धों का धर्म है । इसीको वास्तव धर्म कह सकते हैं । और सब धर्म जीवन सुख के वास्ते हैं और स्वार्थमूलक हैं । इस महाजाल महाप्रपञ्च का फल केवल दुःखमय जीवन है। जितनी ही उन्नति जीव की होती है उतना ही दुःख बढ़ता है । पशुओंको न बहुत सुख न बहुत दुःख है। हंसी और आंसू ये मनुष्य के विशेष धर्म हैं, जो सुख के कणों पर हँसता है और महादुःखों से प्रायः रोता रहता है । सुख इस संसार में शशशृङ्ग और ख-पुष्प तुल्य है । केवल दुःख का जब कुछ अल्पत्व होता है तो उसे मनुष्य सुख समझता है ।

यह दुःख सर्वथा नष्ट हो इस का उपाय खोजना चाहिए। सुख अधिक हो यह ख्याल नहीं रखना चाहिए । ज्ञान के द्वारा जब जीवन और जीवन सुख तुच्छ विदित होने लगता है और इच्छा स्वयं अपने ही प्रतिकूल चलती हुई अपने को नष्ट करने लगती है और जीवन सुख और

भोग से सन्यास लेती है तब जीव की पवित्रता उद्धार और अन्ततः निर्वाण होता है।

सोपेनहावर के मत से बुद्ध और ईसू मनुष्य के आदर्श थे जिन्होंने गार्हस्थ्य का परिहार किया और अहिंसा व्रत को धारण कर जीवनेच्छा को छोड़ शरीर त्याग किया।

सोपेन्हावर के कुछ पहिले ही हर्बार्ट नामक मनोविज्ञानवेत्ता का जन्म हुआ था जिसका मत अब यहां संक्षेप रूप से दिया जाता है।

हर्बार्ट। हर्बार्ट का जन्म ओल्डेन्बर्ग नाम नगर में हुआ। विद्याभ्यास में इसने जन्म बिताया। मानसविज्ञान (Psychology) इस का मुख्य विषय था।

हर्बर्ट के मत से बाह्य वस्तु का अनुभव ज्ञान का मूल है। अनुभव का अन्वेषण पूर्ण रीति से दार्शनिक को करना चाहिए। जब इन्द्रियों में किसी प्रकार का संवेदन होता है तो स्वतन्त्र सत कुछ है यह अवश्य ज्ञान होता है। यह सत् क्या है यह ज्ञान कभी नहीं हो सकता। पर उसकी सत्ता का ज्ञान अवश्य होता है। इसलिये जितने दृश्य (Appearance) हैं उनसे वास्तव सत्ता की स्थिति सूचित होती है इसमें संन्देह नहीं है। यह वास्तव सत्ता क्या है। इस प्रश्न का उत्तर फिक्ट ने आधुनिक समयों में दिया है कि यह आत्मा है, आत्मा अपनी सत्ता आपही बतलाती है। फिक्ट ने आन्तर ज्ञान से यह उत्तर दिया। बाह्य अनुभव से प्राचीन समय में हेरैक्लिटस ने इसी प्रकार उत्तर दिया था कि प्रति क्षण परिणाम वास्तव है, और कुछ पारमार्थिक नहीं है। वस्तुतः सत् पदार्थ अनेक है। इनका परिवर्तन नहीं

होता । एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध होने ही से परिवर्तन होता हुआ जान पडता है । प्रमाता दो वस्तुओं का संवन्ध देखता है। फिर उनमे एकका तीसरी वस्तु से फिर चौथी वस्तु से सम्बन्ध देखता है । इन्हीं सम्बन्धों का परिवर्तन होता है । येही सम्बन्ध अनुभव के मूल हैं। सम्बन्ध भेद ही के कारण एक वस्तु के अनेक गुण देख पड़ते है। कूटस्थता अपरिणामिता पारमार्थिक सत्ता का धर्म है।

आत्मा पारमार्थिक सत्ताओ मे से एक है । एक आत्मा है । यदि मानस कार्यों का मूल एक आत्मा न होती सब मानसवस्तु पृथक् पृथक् होते तो उन में परस्पर सम्बन्ध न होता। रूप रस आदि का कहीं सादृश्य कही सयोग कहीं विरोध आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध देख पड़ते हैं । इसलिये इन का मूल एक आत्मा मानना आवश्यक है । इन सब मानस शक्तियों का मूल परमात्मा है। और इन शक्तियों के कार्यों का समूह जिसे साधारण लोग आत्मा समझते हैं वह जीवात्मा है ।

कितने दार्शनिक संशयवादी है । पर कितना ही संशय सब विषयों मे क्यो न हो कम से कम इतना तो अवश्य निश्चय है कि प्रत्यक्ष का विषय कुछ है। पर ये विषय जैसा हम लोग देखते है वैसे नहीं है। एनेसिडिमस आदि ने कहा है कि ज्ञान के विषय जैसी वस्तु होती है वैसी वे हैं इसमें प्रमाण नहीं है । ह्यूम और काण्ट ने कहा है कि वस्तु परमार्थतः देशकालावच्छिन्न और कार्य-कारण-भाव से व्याप्त नहीं है । देशकाल कार्य-कारण-भाव आदि मनुष्य बुद्धि की सृष्टि है ।

पर संशयवाद का का मुख्य मूल एक वस्तु मे विरोधी अनेक गुणों का असंभव है। भावपरिणामी विकारशील है। परन्तु परिणाम विकार या गति ये सब होना और न होना दोनो के मिलने के अधीन है। एकही वस्तु पहिले भींगी रहती है फिर मनुष्य कहते हैं वह सूख गई। न भींगा सूखा हो सकता है, न सूखा भींगा, फिर भींगे से सूखा हुआ तो कैसे हुआ। इसी प्रकार कार्य-कारण-भाव में बड़ा विरोध है। मिट्टी का घडा बन गया ऐसा लोग कहते है। भला मिट्टी ही अभी है तो घड़ा कहां से हुआ। यदि घड़ा बन गया तो मिट्टी उसमें कहां रह गई। लोग समझाते हैं मिट्टी स्वरूप से भी रह गई और उसका घड़ा भी बन गया और कारण स्वरूप से है भी नहीं भी है। एक वस्तु रहे भी, न भी रहे यह कब संभव है। ऐसे लोग आत्मा को स्वप्रभितिक स्वग्राह्य कहते हैं। जो किसी क्रिया का कर्ता है वह उसी समय उसी क्रिया का कर्म कैसे हो सकता है। आत्मा अपना ही ज्ञान करती है अर्थात् वही ज्ञान का कर्ता भी है और कर्म भी है अर्थात् एक आत्मा दो हो गई कर्ता भी कर्म भी जो कि सर्वथा असंभव जान पड़ता है। ऐसे ही आत्मा को क्षणिक अनेक ज्ञान में समवेत लोग समझते हैं। इन सब विषयों में सत्ता और अभाव एकत्व और बहुत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्मों को लोग एक करने का प्रयत्न करते है। इस विरोध के परिहार के लिये हेगेल ने कहा कि विरोध तो वस्तु का स्वभाव ही है उससे हटने का प्रयत्न ही क्यों करना।

पर हेगेल का मत ठीक नहीं है। सत् तो स्वतन्त्र

अन्यसंबन्धनिरपेक्ष अभाव और परिच्छेद का सर्वथा विरोधी है । सत् तो परिमाण आयाम आदि से हीन देश और काल से असंबद्ध है। केवल पार्मेनिडीज़ आदि से इतना ही भेद हर्बार्ट का है कि सत् एक नहीं है अनेक है और मनुष्य बुद्धि से पर है । अपरिणामिता सत् का स्वभाव है, और कोई गुण या उपाधि सत् में नहीं है। इसलिये यदि सत् एक होता तो ससार जैसा अनुभवगोचर है वैसा नहीं मालूम पड़ता । पर सत् अनेक होने के कारण और अनुभव में सर्वदा अनेक सत आने के कारण सब भेद दृश्य होते है । कार्य-कारण-भाव और समवाय किसी दो वस्तु के सम्बन्ध का नाम नहीं है । ये आत्मरक्षा अर्थात् अभेद के स्वरूप हैं । वस्तु परमार्थतः एक ही है केवल सम्बन्ध भेद से भिन्न देख पड़ती है । एक ही वस्तु किसी के लिये औषध और दूसरे के लिये विष होती है । अनेक सत् परस्पर सम्बद्ध है । ये सम्बन्ध बदलते रहते है जिसके कारण वस्तुभेद देख पड़ता है ।

सत् देशकालातीत है इसलिये यह सम्बन्ध अनेक सत् में कहां होता है क्या इसका अधिकरण है यह यदि पूछा जाय तो केवल यही उत्तर हो सकता है कि वाह्य देश से अतिरिक्त कोई बौद्ध प्रदेश है जहां एक सत् को दूसरे सत् से सम्बन्ध होता है । बाह्य प्रदेश में दो परमाणु कभी एक बिन्दु पर नहीं रह सकते । पर इस बौद्ध प्रदेश में एक शक्ति केन्द्र अर्थात् एक सत् दूसरे सत् के साथ ही एक ही बिन्दु पर रह सकता है । इस बौद्ध प्रदेश के नियम सामान्य प्रचलित रेखागणित से नहीं निकल सकते । अनेक सत्

जब अनेक विन्दु पर रहते हैं तो असबद्ध कहे जाते है। जब एक विन्दु पर आते हैं तो परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अनेक सत् एक विन्दु पर आते हैं तो एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। आत्मा एक सत् है यह जब अन्य सत् पदार्थों से सम्बद्ध होता है तब अनुभव होता है। मनोविज्ञान में यदि अभ्यास किया जाय तो गणित सदृश ठीक ठीक नियम निकल सकते हैं।

हर्बार्ट ने गणित की रीति दर्शन में लगाई। इसलिये इस नई रीति के कारण इसके बहुत से अनुगामी हुए। इनमें से मुख्य फ्रेड्रिक एडवर्ड वेनेक था। हर्बर्ट के मत से मनुष्य बुद्धि के बाह्य भी कितने पदार्थ हैं इसलिये केवल मनोविज्ञान पर सब दर्शन यह नहीं निर्भर समझता था। मनोविज्ञान और सत्ताशास्त्र दोनों मिला कर दर्शन के तत्वों का निश्चय करना हर्बार्ट का उद्देश्य था। बेनेक ने मनोविज्ञान ही मुख्य समझा। मनोमूलक सभी दर्शन हैं। मन से बढ़ कर क्या, मन के अतिरिक्त वस्तुतः कोई प्रमाण है ही नहीं। इसलिये मनोविज्ञान (Psychology) के तत्वों का अन्वेषण करना ही दार्शनिक का एकमात्र कार्य बेनेक के अनुसार है। बेकन लोक ह्यूम आदि आंग्ल दार्शनिकों का अनुसरण करता हुआ वेनेक मानता था कि अनुभव के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है।

हर्बार्ट के मत से आत्मा सत्स्वरूप निर्विकार अपरिणामी निर्गुण है। यह शून्यात्मवाद वेनेक को नहीं अच्छा लगा। बेनेक के मत से संवित् और गति आत्मा के प्रथम गुण है। इसलिये इच्छा और कृति भी आत्मा के गुण

है । इसी इच्छा के कारण चेतनाशक्ति बाह्य वस्तुओं के अन्वेषण मे रहती है क्योंकि इन वस्तुओं के सम्बन्ध से आत्मा के गुणो का विकास और उपचय होता है । इन बातों से कुछ विकासवाद का भास वेनेक को पहिले ही से चित्त मे उठा था ऐसा मालूम होता है । इस समय जर्मनी में मनोविज्ञान का वैज्ञानिक रीति से अभ्यास प्रचलित नहीं था इसलिये कितने दिनों तक वेनेक अप्रसिद्ध दार्शनिक था। पर हाल के समय में कल्पना के स्वप्न से उठ कर जर्मनी देशान्तरों के सदृश विज्ञान की आवश्यकता को समझने लगी है और वुंड्ट (Wundt) आदि बड़े बड़े मनोविज्ञानवादी यहां हुए हैं और अब वेनेक का परिचय धीरे धीरे लोगों को हुआ है ।

अब यहां थोड़े समय के लिये जर्मनी को छोड़ कर फ्रांस और इङ्गलैण्ड के दर्शन का वृत्तान्त दिया जाता है।

सप्तम अध्याय।

काण्ट के समय के कुछ पहिले ही से दो प्रकार के विचार दर्शन मे चले आते थे। जर्मनी में कल्पना-दार्शनिक (Romantic Philosophers) थे। इङ्गलैण्ड और फ्रांस में प्राकृतिक दर्शन (Positive Philosophy) का प्रचार था। इन दोनो शाखाओं की समाप्ति एक वार हो चुकी थी। कौंडियैक और ह्यूम ने प्राकृतिक दर्शन की समाप्ति कर ली थी और हेगेल ने काल्पनिक दर्शन का अन्त किया। काल्पनिक दर्शन का उद्देश्य था कि अन्तःकरण के धर्मों का अन्वेषण करके क्रम से हम लोग बाह्य तत्त्वों का स्वभाव जान सकें। इन लोगो ने ज्ञाता की एकता पर अधिक ध्यान दिया और ज्ञेय मे जो वास्तव अनन्त भेद है उसकी उपेक्षा की। प्राकृतिक दार्शनिको ने बाह्य वस्तुओ के अनुभव पर अधिक ध्यान दिया और समझते थे कि ज्ञेय तत्त्वो का निश्चय कर पश्चात् तदनुसार ज्ञाता का निश्चय हो सकेगा। प्रायः सौ वर्ष हुए कि इङ्गलैण्ड और फ्रास मे पुनः कौंडियैक और ह्यूम के दर्शन का उज्जीवन हुआ। यह प्राकृतिक प्रवृत्ति फ्रास में पुनः कौम्ट से और इङ्गलैण्ड मे मिल से आरम्भ हुई।

कौम्ट। आगस्ट कौम्ट का जन्म मोपेलियर नामक नगर मे हुआ। यह लड़कपन ही से बड़ा बुद्धिमान था। इसकी शिक्षा एक विज्ञानशाला मे हुई। सेंट साइमन आदि विद्वानों के साथ से इसे बहुत लाभ हुआ। 'प्राकृतिक दर्शन की प्रथा'

(Cours de Philosophie Positive) इसके मुख्य ग्रन्थ का नाम है। अठारहवीं शताब्दी मे जो केप्लर न्यूटन आदि वैज्ञानिको के परिश्रम से विज्ञान के नए विषयो का आविर्भाव हुआ था उन वैज्ञानिक तत्त्वो को परस्पर मिला कर दार्शनिक विषयों को तदनुसार ठीक करना इस दार्शनिक का उद्देश्य था। जीवन की अन्तिम अवस्था मे इसने एक निरीश्वर धर्म का भी प्रचार किया जिसके कुछ अनुगामी बहुत से देशों में हुए। परस्पर प्रेम से नियमपूर्वक उन्नति करना ही इस धर्म का उपदेश था।

जैसे काण्ट ने समस्त मानव इतिहास को तीन समयो में बांटा था वैसेही कौम्ट ने भी किया। इसका कथन था कि पहिले मनुष्य पौराणिक बुद्धि के थे और देवता भूत प्रेत आदि कल्पनाओं से संसार के समझने का प्रयत्न करते थे। उसके बाद दार्शनिक समय आया जिसमे एक ज्ञान के अधीन समस्त ज्ञेय है यह साधन करने की चेष्टा हुई। अन्त में अब वैज्ञानिक समय आया है जब कि सब लोग अनुभव और परीक्षा के द्वारा, न कि सूखी कल्पना या कुतर्कों से, वस्तु के निश्चय में प्रवृत्त हैं। इन तीनों अवस्थाओं मे बहुत सी अवान्तर दशाएं हैं। पौराणिक अवस्था में पहिले सब से नीच दशा यह है जब कि काठ पत्थर टोटका टोटरम सबमे लोग मनुष्य की सी बुद्धि और शक्ति समझते हैं और अपनी सहायता के लिये उन्हें पूजते है। इसके बाद आकाश मे बड़े प्रचण्ड दिव्य देवता हैं सभी सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है उनकी पूजा सबको करनी चाहिए ऐसा बहुदेववाद चलता है। फिर सबसे उत्तम एक देव सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है

ऐसा एकेश्वरवाद चलता है। यही एकेश्वरवाद की दशा पौराणिक अवस्था की उत्तम दशा है। ऐसेही दार्शनिक अवस्था में भी पहिले अनेक शक्ति मानते हैं। फिर सब शक्तियो को एक ज्ञानशक्तिस्वरूप मानने का प्रयत्न होता है तब अन्त में वैज्ञानिक अवस्था आती है जिसमें स्वतन्त्र कारणो का अन्वेषण छोड़ कर देवताओं ने संसार बनाया या ज्ञानशक्ति के अधीन संसार है इन बातों का उत्तर असंभाव्य समझ कर यह अन्वेषण किया जाता है कि चाहे जैसे ससार हुआ हो पर यह किन नियमों के अनुसार चलता है, क्यों किसने ससार या यंसार के नियमों को बनाया, यह मनुष्य कभी जान नहीं सकता। पुराण और तर्क दोनो इन विषयो में व्यर्थ भूले है। किन नियमों के अनुसार संसार चल रहा है इसीका अन्वेषण संभव है और यही अन्वेषण मनुष्य की बुद्धि का कर्तव्य है। क्यों पृथ्वी सूर्य के चारो ओर चलती हैं, क्यों सूर्य से प्रकाश होता है अन्धकार क्यों नहीं हो जाता, इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर कभी नहीं दिया जासकता। पर कितनी देर में सूर्य की प्रभा पृथ्वी पर आसकती है, पृथ्वी की गति किस दिशामे घटे में कितने कोस होती है, इन बातों की परीक्षा मनुष्य भलेही कर सकता है और थोड़े श्रम से इन प्रश्नों का उत्तर भी निकाल सकता है।

सभी विज्ञान पूर्वोक्त तीनो अवस्था में कभी न कभी पड़ते हैं। पहिले गणित पुराण से स्वतन्त्र हुआ फिर क्रम से ज्योतिष पदार्थ विज्ञान रसशास्त्र जीवशास्त्र और सामाजिकशास्त्र (Astronomy, Physics, Chemistry, Biology and Sociology) ये सब शास्त्र

पुराण और दर्शन के सबन्ध मे स्वतन्त्र हुए। मनोविज्ञान (Psychology) कौम्ट के अनुसार स्वतन्त्र शास्त्र नही है क्यो कि उसके मत मे मन की परीक्षा मनही मे नहीं हो सकती। सबसे मुख्य सामाजिकशास्त्र है जिसमे समाज के आचार व्यवहार की परीक्षा की जाती है। सभी विज्ञानों मे दो अंश है स्थिति के नियम और गति के नियम (Statics and Dynamics) जिस प्रकार सम्प्रति समाज की स्थिति है उसका वृत्तान्त स्थिति भाग मे दिखाया जायगा और जिस प्रकार सांप्रतिक अवस्था से समाज उन्नत अवस्था को पहुंचाया जा सकता है उसका विवरण गति भाग मे होगा।

सामाजिकस्थिति : सामाजिक किसी दशा को एका एक कोई बदल देना चाहे तो नहीं हो सकता। किस प्रकार एक दूसरे के साथ बरताव करने मे क्या लाभ होगा इस विचार से मनुष्यों ने सामाजिक स्थिति स्वीकार की ऐसा कहना असगत है क्योंकि जब तक कुछ भी सामाजिक व्यवहार न होने लगा तब तक कैसे लाभ या हानि विदित हो सकती है। इसलिये मनुष्यो में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति माननी चाहिए जिसके कारण सामाजिक व्यवहार मे प्रवृत्त होकर मनुष्य उसकी हानि और लाभ समझ सकता है। जैसे और विषयों मे नियम है कि पहिले प्रवृत्ति तब ज्ञान वैसे यहां भी समझना चाहिए।

जब से जन्तुओं मे स्त्री पुरुष का विभाग हुआ और बच्चो के पालन की चिन्ता हुई तभी से संसार मे सामाजिक प्रवृत्तियां होने लगीं। तथापि आज भी मनुष्यों से स्वार्थ सर्वथा हटा नहीं है और न इसके हटाने की आवश्यकता है।

केवल वात्सल्य और सहानुभूति बढ़ने ही से समाज का पूर्ण उपकार हो सकता है । गार्हस्थ्य सामाजिक जीवन का मूल है। यहीं से वात्सल्य और सहानुभूति का आरम्भ होता है ।

सामाजिक उन्नति । जैसे मनुष्य के विचारों में तीन अवस्थाएं कही गई है-पौराणिक दार्शनिक और वैज्ञानिक-वैसे ही समाज में तीन अवस्थाएं आती हैं युद्धावस्था, विवादावस्था और उद्योगावस्था (अर्थात् कलि, द्वापर और कृतयुग) । सब से नीच युद्धावस्था है जिसमे बली निर्बलों को गुलाम बनाकर उनसे गृहकार्य चलाते हुए स्वयं एक दूसरी जाति से युद्ध कर अपनी उन्नति करना चाहते है । दूसरी अवस्था विवाद की है, जब युद्ध कम होने लगता है और कचहरी के झगड़े अधिक बढ़ते हैं । तोपों के बदले बारिस्टरों की बहस और शस्त्रास्त्र के बदले द्रव्य और झूठे इज़हार का उपयोग इस अवस्था में खूब होता है । इसी अवस्था में आज कल बहुतेरी जातियां और बहुतेरे देश है । तृतीय अवस्था (जो सर्वोत्तम है) उद्योगावस्था है । इस अवस्था मे न तो मारकाट की ओर प्रवृत्ति होती है, न हक़ के झगड़े में लोग परेशान रहते हैं किंतु सभी अपने कर्तव्यों मे तत्पर रह कर अपनी और अपने साथियो की उन्नति मे लगते हैं ।

गाल ने अपने मस्तिष्क शास्त्र (Phrenology), में लिखा है कि मस्तिष्क के आगे के हिस्से मे वात्सल्य और सहानुभूति रहती है और मेरुदण्ड के समीप पीछे के हिस्से मे जबरदस्ती और झगड़े का समावेश है । इस वैज्ञानिक की रीति से देखा जाय तो भी यही मालूम होता है कि मनुष्यो मे मस्तिष्क के आगे का हिस्सा अधिक उपचित है

इसलिये मनुष्य को वात्सल्य और सहानुभूति और सामाजिक जीवन की ओर अधिक प्रवृत्ति होनी चाहिए। यद्यपि लामार्क के विकासवाद से कौम्ट को विरोध था तथापि इस विषय में उससे ऐक्य था कि अभ्यास के द्वारा मनुष्य की वात्सल्य आदि उत्तम प्रवृत्तिया बढ़ती हैं और अनभ्यास और अनुपयोग से नीच प्रवृत्तिया घटती हैं।

कौम्ट के मत से ज्ञान का मुख्य स्वरूप सबन्धग्रहण है। किसी एक असंबद्ध विशेष वस्तु के अनुभव को ज्ञान नहीं कह सकते और न नए के अनुभव से किसी बात का निश्चय ही हो सकता है। प्रमेय विषयों के परस्पर सबन्ध का नियम खोजना ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। यह उद्देश्य पौराणिक और दार्शनिक अवस्थाओ में लोग ठीक समझ नहीं सकते थे। अब वैज्ञानिक अवस्था में इसका अन्वेषण हो सकता है।

प्रमेयों का सम्बन्ध दो प्रकार का है-एककालिक या क्रमिक। एककालिक सम्बन्ध स्थिति के नियमो के अनुसार होता है और क्रमिक सम्बन्ध गति के नियमो के अनुसार। परीक्षा और अनुभव से सम्बन्ध के नियमो का अन्वेषण संभव है केवल ध्यान से नही, जैसा कि दार्शनिक लोग समझते है। दार्शनिकों ने स्वतन्त्र सम्बन्धातीत सत्ता पर विचार करना अपना मुख्य उद्देश्य समझा था, वैज्ञानिक लोग सब ज्ञान को सम्बन्धाधीन (Relative) अर्थात् सम्बन्ध ज्ञान कहते हैं। स्वतन्त्र सत्ता को ये लोग निष्प्रमाण समझते हैं। विज्ञान से यह प्रमाणित हुआ है कि समानकालीनता और क्रमिकता रूप प्रमेयों के जो सम्बन्ध हैं उन्हींका ग्रहण मनुष्य को हो सकता है। स्वतन्त्र सब प्रमेय का आदि कारण क्या है

इसका ज्ञान असंभव है । दूसरी बात यह है कि हमारे शरीर और उसकी वर्तमान दशा के अधीन समस्त ज्ञान है । इसलिये प्रमेयो के परस्पर संबन्ध और उनका इन्द्रियों से सम्बन्ध ये दोनों सम्बन्ध ज्ञान के लिये आवश्यक हैं और स्वतन्त्र सम्बन्धातीत सत्ता जो न किसी प्रमेय से न प्रमाता की इन्द्रियो से सम्बद्ध है सो सर्वथा अग्राह्य है और उसके अन्वेषण या ज्ञान की तृष्णा मरुमरीचिका में प्यास बुझाने की आशा के तुल्य है ।

समाजशास्त्र जीवशास्त्र सभी वैज्ञानिक शास्त्रों से यही सूचित होता है कि ज्ञान सम्बन्धाधीन है। सम्बन्धज्ञान ऐतिहासिक है । मनुष्यो की किस क्रम से उन्नति हुई है संपूर्ण संसार ही किस प्रकार वर्तमान दशा में पहुंचा है यह इतिहास ज्ञान ही से जाना जा सकता है ।

धीरे धीरे कौम्ट कुछ विक्षिप्त होगया था । प्रायः अन्त की अवस्था में इसका चित्त ठिकाने नहीं था । उस समय इसने एक अपना नया संप्रदाय ही निकालने का प्रयत्न किया । यह निरीश्वरधर्म था जिसके प्रेम, नियम और उन्नति तीन रहस्य थे । इस विषय को पहिले भी सूचित कर चुके है और दर्शन के इतिहास में ऐसे रहस्यवाद अनावश्यक हैं इसलिये इसका विशेष विवरण यहां नहीं किया जाता ।

मिल । कौम्ट के अनुसारियो मे प्रधान मिल नामक इङ्गलैण्ड का दार्शनिक था । इसका पूर्ण नाम जान स्टुअर्ट मिल था । लण्डन नगर मे इसका जन्म हुआ । इसका पिता जेम्स मिल मनोविज्ञान (Psychology) मे निपुण था । स्टुअर्ट

मिल की शिक्षा प्रायः संपूर्ण उसके पिता के हाथ से हुई। बचपनही में इसने कई भाषाओं का और कई शास्त्रो का अध्ययन किया। दर्शन में यह ह्यूम, कौम्ट और अपने पिता का अनुगामी हुआ। धर्म में यह बेटहम के उपयोगवाद (Utilitarianism) का अनुगामी था।

तर्कशास्त्र (System of Logic) और हेमिल्टन की परीक्षा (Examination of Hamilton's Philosophy) ये दो ग्रन्थ इसके मुख्य हैं। उपयोगवाद अर्थशास्त्र आदि पर और भी इसने ग्रन्थ लिखे हैं।

ह्यूम के प्रमेयवाद (Phenomenalism) और अपने पिता के सहचार प्रधान मनोविज्ञान को मूल मान कर स्टुअर्ट मिल ने अनुभव को एक मात्र ज्ञान का मूल माना है। इसके मत से सहज ज्ञान कोई वस्तु नहीं है। मूर्तद्रव्य केवल ऐन्द्रिय संवेदन का सार्वकालिक संभव मात्र (permanent possibility of Sensations) है। मूर्त पदार्थ की बाह्य सत्ता का उपपादन सर्वथा असंभव है। चित्त भी क्षणिक अनेक विज्ञानपरम्परा का समूह मात्र है। केवल इन अनुभवो के संभव के लिये इनका एक अनिर्वचनीय मूल कुछ मानना चाहिए। काण्ट ने जो गणित-तत्त्वों में अपूर्व निश्चय सिद्ध किया है सो सर्वथा असंगत है क्योंकि इन तत्त्वों का भी ज्ञान अनुभवाधीन है। एक और दो मिल कर तीन होता है यह वैसा ही ज्ञान है जैसा कि आग में हाथ डालने से जलने का ज्ञान। इसलिये जितना निश्चय सब ज्ञानों में है उससे अधिक गणित के तत्त्वों में विश्वास करना उचित नहीं है।

वैज्ञानिक परीक्षा का मुख्य उपाय व्याप्तिग्रह है।

अनुमान में भी मुख्य व्याप्तिग्रह ही है। जहां धुआं है वहां आग अवश्य है इतना कह देने ही से इस सामान्य व्याप्तिग्रह के जितने विशेष उदाहरण हैं सब वस्तुतः अन्तर्गत हो गए केवल स्पष्ट रूप से इसके उदाहरणों को दिखाना ही अनुमान है। एक विशेष ज्ञान से दूसरे विशेष ज्ञान का होना ही व्याप्ति का स्वरूप है। जब लड़का एक वार आग से हाथ जला लेता है तो फिर आग देखने से उसे जलने का स्मरण होता है और समझता है कि जब जब आग का स्पर्श होगा तब तब हाथ जलेगा। विशेष व्याप्तिग्रहों का मूल प्रकृति की एकरूपता में अर्थात् कार्य-कारण-भाव की सर्वव्यापिता में विश्वास है। यह विश्वास भी अनुभवमूलक ही है। मनुष्य देखता है कि बिना कारण कोई कार्य नहीं होता और यह भी अनुभव से मालूम होता है कि प्रतिवन्धक न हो तो कारण से कार्य अवश्य होगा। इसी कारण एक वार आग से जलने पर फिर भी जलने का भय अवश्य होता है। यही प्रकृति के ऐक-रूप्य में विश्वास सबसे बड़ा व्याप्तिग्रह है जिसका बाधक अभीतक किसीको नहीं मिला है।

मिल ने कार्य-कारण-भाव की परीक्षा के लिये चार प्रकार निकाले है १ अन्वय, २ व्यतिरेक, ३ सहभावी परिवर्तन, ४ पारिशेष्य। जिस दृश्य का अन्वेषण किया जारहा है उसके अनेक उदाहरणों मे यदि कोई एक ही विषय सामान्य हो और सब विषयों मे इन उदाहरणो में परस्पर भेद हो तो जिस विषय में सबका ऐक्य है वही उस दृश्य का कारण या कार्य हो ऐसा बहुत संभव है। यदि दो उदाहरण हों जिनमें एक मे अन्वेष्टव्य दृश्य वर्तमान हो और दूसरे में नहीं

और इन दोनों में एकही किसी विषय का भेद हो और सब विषयो में साम्य हो तो जिस विषय में भेद है वही अन्वेष्टव्य दृश्य का कारण या कार्य हो ऐसा सभव है। ये दोनो नियम एक साथ मिला भी दिए जा सकते हैं। इनको मिलाकर एक तीसरा नियम इस प्रकार का होता है। यदि अनेक उदाहरणों में, जिनमे अन्वेष्टव्य दृश्य वर्तमान हो, कोई एकही विषय वर्तमान हो और दूसरे उदाहरणों में जिनमे कि अन्वेष्टव्य दृश्य नहीं है वही विषय नहीं हो तो वह विषय अन्वेष्टव्य दृश्य का कारण या कार्य है। यदि दो दृश्य ऐसे हो कि परस्पर एक के परिवर्तन से दूसरा भी किसी प्रकार परिवर्तित हो तो इन दोनों मे से एक दूसरे का कार्य या कारण है अथवा दोनो किसी दूसरी एक ही वस्तु से कार्य-कारण-भाव सबन्ध के द्वारा संबद्ध हैं। अन्तिम अर्थात् पारिशेष्य नियम यह है कि यदि किसी उदाहरण में और सब दृश्यो का कारण प्रथमतः और व्याप्ति-ग्रहो से विदित है पर एक विशेष दृश्य का कारण नहीं ज्ञात है और दूसरे किसी दृश्य का कार्य नहीं ज्ञात है तो ये दोनो दृश्य परस्पर कार्य-कारण-भाव संबन्ध रखते हैं।

आचार के विषयों मे मिल बेन्टहम का अनुगामी था और सब जन्तुओं का सुख जिस कार्य से हो उसीका अनुसरण मनुष्य का कर्तव्य समझता था। पर बेंटहम से इस का इतना भेद था कि सुखों में परस्पर केवल परिमाण-प्रयुक्त ही भेद नहीं किंतु गुणप्रयुक्त भेद भी मिल मानता था अर्थात् जिससे अधिक सुख हो ऐसे कार्यों के लिये थोड़ा सुख जिससे हो ऐसे कार्य को छोड़ना मिल के अनुसार सर्वदा धर्म नहीं है। दो सुखो में शारीर से मानस, मानस में भी विषयसुखो से

शान्ति सुख उत्तम है इसलिये उत्तम सुख थोड़ा भी हो तो अधम सुख की ओर ध्यान नहीं देना यह मिल का मत है। सुखो मे उत्तम अधम का प्रयोजक क्या है और उसका किस प्रकार निश्चय हो, यदि निश्चय भी हो तो वही गुणभेद प्रयोजक जो पदार्थ है वही मनुष्य का उद्देश्य क्यों नहीं इत्यादि शङ्काएं मिल के विरोधियो ने उठाई हैं और वे संगत मालूम पडती है।

अब वर्तमान शताब्दी मे इङ्गलैण्ड के सब से बड़े दार्शनिक स्पेंसर और जीवशास्त्रज्ञ विकासवादी डार्विन के मत कैसे है सो आठवें अध्याय में दिखाया जायगा।

अष्टम अध्याय ।
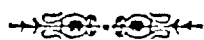
आज से प्रायः सौ वर्ष पहिले श्रूमवेरी में डार्विन का जन्म हुआ । चार्ल्स डार्विन की स्वाभाविक प्रवृत्ति विज्ञान की ओर विशेषत: जीवशास्त्र के अभ्यास में हुई । जब वह इक्कीस बाइस वर्ष का हुआ तो बीग्ल नाम के जहाज पर इसने पृथ्वी के चारों ओर यात्रा की । दूर दूर के टापुओ में एक टापू के एकही जाति के जन्तुओं में अनेक छोटे छोटे भेद पाकर उसे बडा आश्चर्य हुआ कि क्या कारण है कि एकही जाति के जन्तुओं में इतना अन्तर पड़ा । इसी विचार में डार्विन पड़ा था कि मैल्थस के प्राणिवृद्धि पर प्रबन्ध उसके हाथ लगे । इन लेखों मे मैल्थस ने यह दिखलाया है कि प्राणियों की संख्या स्वभावतः इतनी बढ़ती पर रहती है कि यदि अनेक जीवन के विरोधी उपद्रव न होते तो किसी जन्तु को खाने को नहीं मिलता और रहने की पृथ्वी पर जगह न मिलती ।

इस बात को पढ़ कर डार्विन के चित्त में आया कि यदि ऐसी बात है तो इस जीवन की प्रतिद्वन्द्विता में उन्हीं प्राणियों के बचने का संभव है जिन्हें कि किसी कारणवश ऐसी शारीरक रचना या शक्ति हो कि विशेष प्रदेशों में तथा और जन्तुओं की अपेक्षा उन्हें प्राण बचाने की अधिक सुविधा हो। जिन जन्तुओं को ऐसी सुविधा नहीं होगी वे नहीं बच सकते। इस प्रकार जो जन्तु किसी कारण वश अपने विशेष निवास

स्थान के योग्य शरीर रखते होंगे उन्हीं की सन्तति भी बढ़ेगी। औरों की जाति या तो नष्ट हो जायगी या और कहीं जाकर रहेगी जहा उनके लिये ठीक सुविधा हो। इसी योग्यरक्षा (Survival of the fittest) की बुनियाद पर डार्विन ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमे से मुख्य 'जात्यन्तरों का मूल' (Origin of species) और 'मनुष्य का अवतार' (Descent of man) हैं। प्रतिद्वन्द्विता प्रकृति का एक नियम है। यह नियम शाश्वत और सार्वत्रिक है। यह प्रतिद्वन्द्विता प्राणियों की अति-वृद्धि से होती है, इसलिये जिन प्राणियों में जीवन रक्षा के लिये परिवृत्ति की शक्ति होती है अर्थात् जैसी अवस्था आवे उसीके अनुसार जो प्राणी अपने स्वभाव का परिवर्तन कर सकता है वही बचता है और संतानवृद्धि भी कर सकता है। इसी प्रकार अवस्थानुरूप परिवर्तन होते गए हैं और प्राणियों की भिन्न जातियां ससार में प्रकट हुई हैं जिन्हें कितने लोग भिन्न सृष्टि समझते हैं।

इस विकाससिद्धान्त के निश्चय के लिये पहिले तो डार्विन को अपनी यात्रा में अनेक जन्तुओं का निरीक्षण करना पड़ा फिर मैल्थस का ग्रन्थ पढ़ कर संतानवृद्धि की स्वाभाविक अतिप्रवृत्ति से प्रतिद्वन्द्विता का अनुमान हुआ। उसके बाद प्रतिद्वन्द्विता के कारण जो प्रकृति में योग्यता निर्धारण (Natural Selection) होता है अर्थात् प्रकृति योग्यव्यक्तियो को चुनकर उनकी रक्षा करती है और अयोग्य असमर्थ व्यक्तियों की उपेक्षा करती है जिससे उनका अन्ततः नाश हो जाता है, इस विषय की अनुभव के द्वारा परीक्षा करनी पड़ी। वैज्ञानिक सिद्धान्तो के निश्चय में ये ही तीन मुख्य

व्यापार हैं—निरीक्षण, अनुमान और परीक्षा । निरीक्षण और अनुमान किस प्रकार डार्विन ने किया सो ऊपर कहा गया है। परीक्षा में चार वातो से डार्विन को सहायता मिली। घोड़े भेड़ आदि जन्तुओं को पालने वाले अपने मतलब के लायक जन्तुओं का संग्रह कर उन्हींसे जिस जाति का जन्तु पैदा करना चाहते है उनसे भिन्न जाति के व्यक्तियों को छाट देते हैं और अभीष्ट जाति वालों से अपनी इच्छानुरूप संतान पैदा कराते हैं । दूसरी वात यह है कि जिन पशुपक्षी आदि की जातियां नष्ट हो गई हैं उनका वर्तमान जातियों से वहुत सादृश्य मिलता है, प्रायः भेद इतना ही रहता है कि नष्ट जातियां वैसी उत्तमता को प्राप्त न थीं जैसी कि वर्तमान जातियां हैं । पृथ्वी पर जितनी जन्तु जातियां हैं उनमें परस्पर सादृश्य तीसरा प्रमाण है जिससे हम लोग समझ सकते हैं कि किसी समय एकही कोई छोटे जन्तुओं की जाति पृथ्वी पर थी जिनके सूक्ष्म अण्डे वच्चे या वीज जल वायु आदि के प्रवाह से समस्त भूमण्डल पर फैले जिनसे विकासक्रम से स्वयं वर्तमान जातियां निकली है । चौथी वात विकास की साधक यह है कि गर्भावस्था में प्रायः अनेक जन्तु एक ही से देख पड़ते हैं और कितने अपूर्ण (Rudimentary) इन्द्रिय गर्भा-वस्था में पाये जाते हैं जिनका पूर्ण विकास कितने जन्तुओं में नहीं होता । इन सव वातों से प्राकृतिक योग्यसंग्रह (Natural Selection) और योग्यतमरक्षा (Survival of the fittest) पूर्ण रीति से सिद्ध होती है ।

डार्विन स्वयं इस वात को समझता था कि उसकी विकास कल्पना (Evolution Hypothesis) के लिये कोई स्पष्ट

प्रमाण नहीं मिल सकता । यह कल्पना तभी सिद्धान्तित हो सकती है जब कि कोई विषय इसके विरुद्ध वैज्ञानिक परीक्षा मे न मिले पर यह बात काल के अधीन है । चिर काल बीतने पर भी यदि कोई वैज्ञानिक विरोध विकास कल्पना पर न आवे तो इसे सिद्धान्त समझना चाहिए ।

विकास कल्पना में अन्तिम आपत्ति यह पड़ती है कि जिन भिन्न प्रकार के व्यक्तियो में से देशकालोपयुक्त व्यक्तियां प्रकृति से चुनी जाती हैं और रक्षित और परिवर्द्धित होती है और तदनुसार नाना प्रकार के जन्तु संसार मे प्रकट होते है उन व्यक्तियों मे प्रथम भेद कहां से आया । जन्तुओं के जाति भेद का मूल बतलाती हुई विकास कल्पना जब अन्तिम व्यक्तिभेद पर पहुंचती है तो सर्वथा अड़ जाती है और कुछ कह नहीं सकती । इस आपत्ति को डार्विन खूब समझता था और अवस्था भेद से तथा इन्द्रियों के और शक्तियों के उपयोग और अनुपयोग से व्यक्तियों मे प्रथम भेद उत्पन्न होते है यह उसे मानना पड़ा था । सर्द गर्म आदि अवस्था भेद से व्यक्तियो मे भेद होता है । इसी प्रकार जिस अङ्ग का या जिस शक्ति का उपयोग हुआ वह अङ्ग या शक्ति सुरक्षित है और जिसका उपयोग न हुआ उसके लुप्त होने का संभव रहता है । इन कारणों से या और किसी कारणान्तर से व्यक्तियों मे जो भेद पड़ता है उन भेदों की कैसे रक्षा वृद्धि आदि होती है यही दिखलाना डार्विन का प्रधान उद्देश्य था ।

जिस प्रकार छोटे से छोटे जन्तुओं से विकासक्रम से बड़े जन्तु उत्पन्न हुए है वैसे ही बड़े जन्तुओं के उत्पत्तिक्रम मे अन्तत. मनुष्य उत्पन्न हुआ है । मनुष्यवुद्धि से या मनुष्य

शरीर से पशुबुद्धि मे या पशुशरीर में ऐसा कुछ भेद नहीं है जिससे मनुष्य विकासक्रम से बाह्य हो। मछलियो के शरीर और बुद्धि से जितना बन्दर की बुद्धि और शरीर में भेद है उससे कहीं थोड़ा भेद बन्दर और मनुष्य मे है। इसलिये मछलियों से कछुआ आदि क्रम से जैसे बन्दरों का आविर्भाव हुआ वैसे ही बन्दरो से मनुष्यों के आविर्भाव में कुछ आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। स्मृति सौन्दर्य ज्ञान महानुभूति आदि पशुओं को मनुष्य ही के सदृश हैं, विवेक भी पशुओं में वर्तमान है, नहीं तो घोड़े आदि पशुओं की शिक्षा नहीं हो सकती थी। इसलिये कीड़ों से लेकर मनुष्य तक विकास क्रम निर्विवाद समझना चाहिए।

डार्विन ने परस्पर विरोध या प्रतिद्वन्द्विता शाश्वत और सार्वत्रिक मानी है जिससे कितने धार्मिक दार्शनिको को बड़ी घृणा हुई क्योंकि यदि विरोध ही जगत् का स्वभाव होता तो उपकार इमान आदि की स्थिति संसार में कैसे पाई जाती। पर डार्विन का कहना है कि उपकार सहानुभूति इमान आदि सब गुण व्यक्तियों में अपनी खास या अपनी जाति की रक्षा के लिये पाए जाते हैं। शुद्ध स्वार्थ-निरपेक्ष कोई गुण नहीं है। सहानुभूति आदि गुणों को रखनेवाले जन्तु सहानुभूतिशून्य जन्तुओं की अपेक्षा अधिक रक्षा की आशा और जन्तुओं से रख सकते हैं इसलिये सहानुभूति आदि गुण भी स्वरक्षाहेतुक ही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ख्याल रखना चाहिए कि सहानुभूति परार्थ आदि गुण केवल मनुष्यों ही में नहीं हैं कितने पशुओं में ये गुण अधिक पाए जाते है और जब ऐसी अवस्था है

तो उस बन्दर से उत्पन्न होना अच्छा है कि जो अपने स्वामी के लिये अपना प्राण देने को तैयार होता है या उस असभ्य मनुष्य से जो अपने पड़ोसी की पीड़ाओं में अपना सुख मानता है और उसके लड़के बालों को मारकर अपना जीवन धन्य समझता है और अनेक भूत प्रेत आदि के भ्रमों में अपनी जिन्दगी व्यर्थ गँवाता है ?

सामाजिक सहानुभूति की शक्ति और स्मृति और विचार और भाषा की शक्ति आचारज्ञान के लिये अपेक्षित हैं। अपने किए हुए कार्यों को मनुष्य स्मरण करता है और एक कार्य को दूसरे कार्य से मिला कर विचारता है कि वर्तमान अवस्था के लिये उन कार्यों में से कौन ठीक होगा। भाषा ज्ञान होने के कारण जो कार्य अधिक लोगों की प्रशंसा पाते है वैसे कार्यों में मनुष्यों की अधिक प्रवृत्ति होती है और निन्दित कार्यों से जी हटता है। धीरे धीरे प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते अभ्यास ऐसा पड़ जाता है कि ऐसे ही कार्यों की ओर स्वभावतः मनुष्य चलता है। इसके अतिरिक्त सहानुभूति पदार्थ प्रवृत्ति आदि में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे विकास सिद्धान्त मे कोई बाधा पड़े।

ईश्वर के विषय में मनुष्य की बुद्धि नहीं पहुंच सकती ऐसा समझ कर डार्विन प्रायः कुछ नहीं कहता था। लोगों का दुःख देख कर कारुणिक और सर्वज्ञ ईश्वर मानने में कभी कभी डार्विन को आपत्ति भी पड़ती थी क्योंकि वह समझता था कि यदि कारुणिक परमज्ञानवान् शासक कोई इस जगत् का होता तो अपने उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा उत्तम से उत्तम निर्दुःख संसार की कल्पना कर अपनी

करुणा से वैसा ही बनाता। डार्विन ने अनुभव आदि और भी दार्शनिक विषयों पर अपना मत प्रकाशित किया है जो संक्षेप के कारण यहां नहीं दिया जा सकता।

विकास सिद्धान्त का व्याख्याता वर्तमान शताब्दी में इङ्गलैण्ड का महादार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर था। डर्वो प्रदेश में इसका जन्म हुआ। स्पेंसर बिना विश्वविद्यालय की सहायता से स्वयं शिक्षित हुआ। इसके 'प्रथम तत्त्व', 'मनोविज्ञान तत्त्व', 'समाज शास्त्र' आदि अनेक ग्रन्थ है। प्रायः दो वर्ष इसको मरे हुए।

स्पेंसर के मत से कैसा ही भ्रममय कोई मत क्यों न हो प्रत्यक्ष ही सब मत का मूल है। इसलिये सबमें कुछ न कुछ सत्य का अंश रहता है। न कोई मत सर्वथा सत्य है न सर्वथा असत्य है। सब मतो में जो सामान्य अंश है उसी को संग्रह करना चाहिए और सत्य समझना चाहिए। धर्म और विज्ञान मे तो बराबर का झगड़ा है। इस विरोध के भी मूल का अन्वेषण करना चाहिए। जिस मूल से यह विरोध निकला वही वास्तव है। धार्मिक लोगो के सृष्टिवाद आदि परस्पर विरुद्ध और व्याहत हैं। जैसा काण्ट ने विरोधाध्याय (Antinomics) मे दिखलाया है उसके अनुसार संसार को न तो नास्तिकों के मत मे पड कर स्वभावसिद्ध ही मान सकते है, न वेदान्तियों की तरह उसे आत्मकल्पित कह सकते हैं या द्वैतवादी भक्तो का सा उसे बाह्यशक्तिकृत समझ सकते हैं, क्योंकि जिधर जाते हैं उधर ही अनिर्वाच्य आपत्तिया आती हैं। हैमिल्टन और उसके अनुयायी मैंसेल ने यह स्पष्ट दिखलाया है कि जगत् का एक स्वतन्त्र आदि कारण

(Absolute) मानने से अनेक विरोध हैं क्योंकि आदि कारण यदि स्वतन्त्र जगद्बाह्य है तो उससे जगत् को कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और यदि सम्बन्ध हुआ तो स्वतन्त्रता जाती रही। पर इन सब विरोधों के रहते भी अत्यन्त भ्रान्त भूतादि-वादों से लेकर बड़े दर्शनों तक सबमे एक बात अवश्य समान देखी जाती है कि सब संसार का मूल कुछ रहस्य अप्रमेय समझते हैं जिसका वर्णन प्रत्येक मत करना चाहता है पर कर नहीं सकता।

प्रोटागोरस से काण्ट तक सब दार्शनिकों के विचारों से यह स्पष्ट स्थिर हुआ है कि यह अप्रमेय सर्वव्यापी जिस का प्रकाश सब प्रमेयों मे हो रहा है यह परमार्थ सब दृश्यों के पीछे छिपा हुआ स्वयं कभी ज्ञानगोचर नहीं हो सकता अर्थात् मनुष्य का ज्ञान कभी स्वप्रमितिक तक नहीं पहुंच सकता। यह बात दो प्रकार से प्रमाणित हो सकती है। एक तो अन्तिम वैज्ञानिक प्रत्ययो की दुर्बोधता से व्याप्ति विधया (Inductively) इसका स्थापन हो सकता है और दूसरे बुद्धि के स्वभाव से ज्ञानव्यापार की परीक्षा के द्वारा अनुमान से इसका उपपादन किया जा सकता है। दिक् काल द्रव्य गति शक्ति चित्त आत्मा परमात्मा आदि प्रत्यय है जिनका मूल और स्वभाव दुर्बोध और अनिर्व-चनीय है। विशेष प्रत्ययो को सामान्य मे फिर उनको और बड़े सामान्य मे ले जाते ले जाते अन्ततः परासत्ता पर स्थिरता होती है जिसका किसी और बडे वर्ग मे अन्तर्भाव नहीं हो सकता और इसीलिये निर्वचन भी नहीं हो सकता। ज्ञान के प्रत्येक व्यापार मे अनेक वस्तुओं का सम्बन्ध भेद

और सादृश्य अपेक्षित है अर्थात् ज्ञान संबन्धग्रहण रूप है। इसलिये जिस वस्तु का वस्त्वन्तर से भेद परिच्छेद और सादृश्य नहीं हो सकता उसका बुद्धिगोचर होना असंभव है। अप्रमेय स्वतन्त्र जगतद्‌वाह्य परमार्थ न तो भेदग्रह के, न परिच्छेद के, न सादृश्य के योग्य है इसलिये उसके बोध में तीन असंभावनाएं आपड़ीं। पर इस कारण हेमिल्टन और मेंसेल ने वैसे ईश्वर को सर्वथा अप्रत्येय समझ लिया है वैसा नहीं समझना चाहिए। स्पेंसर के मत से ईश्वर का विशेष स्वरूप क्या है सो नहीं जाना जा सकता पर उसकी सत्ता जानी जाती है क्योंकि यदि बोध सम्बन्ध-ग्रहण में नियत है तो इससे अवश्य मान पड़ता है कि सम्बन्धातीत भी कुछ वस्तु है जहां बोध नहीं पहुंच सकता। इसीलिये सबको अप्रमेय अविषय कारण और सर्वान्तर्यामिणी शक्ति में पक्का विश्वास है।

ज्ञान सम्बन्ध सापेक्ष है। एक सामान्य ज्ञान के बाद दूसरा उसके बाद तीसरा ऐसे ही चलते चलते सामान्यग्रहो की परंपरा बन जाती है। साधारण मनुष्यों का ज्ञान परस्पर असंघटित है। वैज्ञानिक ज्ञान कुछ कुछ संघटित हैं दार्शनिक ज्ञान सर्वथा संघटित और एकीभूत (Unified) है। अप्रमेय एक शक्ति, उस शक्ति के प्रमेयविवर्तों मे प्रमेय सादृश्य और भेद इन प्रमेयों में आत्मा और अनात्मा का भेद आदि दर्शन के विषय हैं। दिक् या समकालिक स्थिति के संबन्ध, काल या अपरिवर्त्य क्रम के संबन्ध, द्रव्य अर्थात् रोधक स्थितियों की समान कालिक वृत्ति, गति जिसमें दिक्काल द्रव्य तीनो की अपेक्षा है और शक्ति जो त्रि मूलो का मूल है जिस पर

सब निर्भर है और जिसके वासनात्मक अनुभव से और सब संवित् होते हैं—ये सब भी दर्शन के विषय हैं । शक्ति की सार्वकालिक सत्ता ही मूल परमार्थ है जिससे द्रव्य की अविनाश्यता, गति का सातत्य, शक्तियों के संबन्ध की नित्यता अर्थात् नियमों की एकरूपता, शारीरिक मानसिक और सामाजिक शक्तियों का परिणाम और तुल्य परिवर्तिता, गति का दिङ्नियम अर्थात् उसकी अल्पतमावरोध—रेखानुसारिता गुरुतमाकर्षणानुसारिता और इन दोनों का योग और गति का अविच्छिन्न प्रवाह आदि निकलता है ।

इन विषयों के अतिरिक्त दर्शन ने एक नवीन तत्त्व यह भी स्थापित किया है कि द्रव्य का सदा विभागपरिवर्तन (Redistribution) हुआ करता है । ससार का प्रत्येक अवयव और समस्त ससार भी सदा विकास और संकोच (Evolution and dissolution) इन दो व्यापारो मे लगा हुआ है । विकासावस्था मे द्रव्य का सघीभाव और संकोचावस्था में शिथिलीभाव होता है ।

इस प्रकार दर्शन के सामान्य तत्त्वों का वाख्यान कर स्पेसर ने दर्शन के विशेष विभागों का व्याख्यान करना आरम्भ किया है । इन विशेष विभागों में तीन मुख्य हैं जीवनविभाग, मनोविभाग और समाजविभाग । निर्जीव ससार का विषय छोड़कर पहिले पहल जीवशास्त्र का तत्त्व (Principles of biology) स्पेसर ने लिखा है जिसमें आन्तर सबन्धों की बाह्य संबन्धों के साथ अविच्छिन्न मिलावट को ही उसने जीवन समझा है । इन दोनों संबन्धों का पुनः परस्पर सबन्ध मनोविज्ञान मे पूर्णरूप से दिखलाया गया है ।

मनस्तत्त्व स्वय क्या है इस बात को विज्ञान नहीं कह सकता। स्वयं मनस्तत्त्व अज्ञेय है केवल जिन अवस्थाओ मे यह प्रकाश होता है उन अवस्थाओ की परीक्षा विज्ञानाधीन है। नाड़ीनिष्ठ आघात (Nervous shock) ही अन्तिम अवयव सवित् के हैं। संवेदन और सवेदनों मे सवन्धो से चित्त बना है । इन्हीं संवेदनों के स्मरण, परस्पर सवन्ध और मघीभाव मे समस्त मवित् बना है । इसलिये चित्त की भिन्न वृत्तियो में परस्पर अत्यन्त भेद नहीं है। चित्तव्यापार में प्रतिफलन (Reflex action) स्वाभाविक क्रिया, स्मरण, विवेक ये क्रम है। जो मंवित् के रूप व्यक्तियों मे स्वाभाविक और महज है वे भी जाति मे किसी न किसी समय अनुभव से प्राप्त हुए थे और पीछे नाड़ीजाल में जमकर पितामाता से पुत्रो के शरीर मे आए है। वाह्य शरीर के द्वारा नाड़ी पर आघात होता है। नाडियो का धर्म ज्ञान है । चित्त और शरीर दोनो ही अप्रमेय के रूपान्तर है । संवित् के एकीभाव और विभाग का प्रवाहरूप चित्त है। वही परमार्थ है जिसके अभाव की उत्प्रेक्षा हो सके । इस नियम के अनुसार सद्वाद संविद्वाद से उत्तम है पर सद्वाद का वह रूप ठीक है जिसके अनुसार पारमार्थिक सत्तामात्र जानी जाती है पर उस सत्ता का निर्वचन नहीं हो सकता । इसी मत को स्पेंसर ने रूपान्तरित सद्वाद (Transfigured Realism) कहा है ।

निद्रा स्वप्न मूर्छा मृत्यु आदि को देखकर शरीर से भिन्न चित्त कोई वस्तु है ऐसा विश्वास प्राचीन मनुष्यो में हुआ। यह चित्त या प्राण या शरीरातिरिक्त आत्मा मरने पर कहीं रहता है और जीते हुए लोगों को सुख दुःख आदि देने का

प्रयत्न करता रहता है ऐसा विश्वास रख कर मनुष्यों ने जादू तन्त्र प्रार्थना प्रशंसा आदि से इन प्रेतों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया । इसी पितृपूजा से अनेक वृक्षपूजा, मूर्तिपूजा, जन्तुपूजा आदि धर्म निकले । प्राचीन मनुष्य केवल जीवित जन्तुओ से ही नहीं वरन भूत जन्तुओं से भी अपने को संबद्ध समझते थे । चारों ओर उनके भूत प्रेत पिशाच सती वीर ब्रह्मराक्षस आदि घेरे हुए है ऐसा वे समझते थे । जीवित् के भय से दण्डभय और मृतभय से धर्मभय निकला ।

युद्ध और वैश्यवृत्ति सब से प्रचीन सामाजिक वृत्तियां हैं। युद्धवृत्तिमे पारवश्य और वैश्यवृत्ति में स्वातन्त्र्य मुख्य है । धर्म की उन्नति का मुख्य उद्देश्य आदिकारण से मनुष्य भावनाओं को निकाल कर भूत प्रेत आदि में विश्वास छोड़ कर शुद्ध अप्रमेय का भजन है । इस प्रकार सामाजिक तत्वों का व्याख्यान कर स्पेंसर ने आचारतत्वों का व्याख्याम किया है ।

जिस आचरण को अच्छा या बुरा कह सकते हैं वही आचारशास्त्र का विषय है । उद्देश्य के अनुरूप व्यापार को आचार कहते है। अपना जीवन, संतान का जीवन और सामाजिक जीवन जिससे पूर्णता को पहुंचे और इस उद्देश्य के पूर्ण अनुरूप व्यक्तियों का आचरण हो इसी पर आचार विकास का लक्ष्य बराबर रहा है । किसी आचरण की उत्तमता की परीक्षा के लिये यह देखना आवश्यक है कि उससे अनुष्ठानप्रयुक्त दु:ख की अपेक्षा फलीभूत सुख अधिक है या कम । जिस कार्य के करने में दुःख जितना हुआ उससे कहीं अधिक यदि सुख आगे निकल सके तो वह कार्य अच्छा है,

यदि सुख कम निकले तो बुरा है। आधिभौतिक आध्यात्मिक और सामाजिक नियमों के अधीन आचरण की परीक्षा है। स्वार्थ और परार्थ दोनों पृथक् होने से अनर्थकारक हैं दोनों मे मेल होने से आचार की उन्नति होगी। सब से पहिले स्वार्थप्रयुक्त कलह होती है फिर प्रत्येक का स्वार्थ परस्पराधीन देख कर मनुष्य प्रेममय जीवन को पसंद करते हैं। सामाजिक आचारों मे न्याय और उपकार मुख्य हैं। न्याय के अनुसार अपने स्वभाव और आचार की भलाई बुराई का उचित अंश कर्ता को मिलता है। प्रतिकार का भय, सामाजिक अपवाद, राजदण्ड, देवदण्ड आदि का भय परार्थन्याय में सहकारी है और स्वार्थन्याय स्वातन्त्र्य की इच्छा से प्रवृत्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के स्वातन्त्र्य का विरोध न कर जितना जो कुछ चाहे कर सकता है यही न्याय का नियम है।

समाज मे राज्य और राजशासन की आवश्यकता परस्पर विरोध के कारण पड़ती है। प्रजा में परस्पर अन्तर्भेद को बचाना और प्रजा की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना राज्य का कार्य है।

इस प्रकार एक ओर डार्विन स्पेंसर आदि वैज्ञानिक दर्शन (Positive Philosophy) पर चल रहे थे जब इङ्गलैण्ड में दूसरी ओर से काण्ट और हेगेल के अनुगामियों के संविद्वाद (Idealism) का प्रवाह आया। ग्रीन ब्रैडले आदि अनेक संविद्वादी हाल में आङ्गल भूमि मे हुए है इनमे मुख्य ग्रीन है जिसके दर्शन का संक्षिप्त वृत्तान्त यहां दिया जाता है।

आङ्गदर्शन जो लाक से लेकर स्पेंसर तक अनुभववाद

(Empiricism) वाला आया उसके विरुद्ध ग्रीन ने यह दिखलाया है कि ज्ञान का संभव तभी है जब संबन्धग्राही का आत्म संवित् हो । इसलिये आत्मज्ञ प्रमाता अवश्य है । बाहर प्रकृति को देखे तो भी मालूम होता है कि यह समस्त संसार सम्बन्धमय है इसलिये इन सम्बन्धों का ग्राहक भी आत्मतत्त्व है । इसलिये आत्मज्ञानवान् स्वप्रमितिक ईश्वरमय यह सब संसार है । आत्मा अनात्मा का कोई भेद नहीं । शरीर से नियत इसी ईश्वर के अंश को जीव कहते है । पूर्णता को पहुंचना ही मनुष्य के आचार का उद्देश्य है । पुरुषों ही के रूप से ईश्वर संसार में प्रकाशित होता है और पुरुषों का जीवन समाज ही में संभव है इसलिये सामाजिक जीवन पुरुषों के पूर्णता पर पहुंचने का उपाय है । इसलिये मनुष्य के आचार का उद्देश्य ऐसा होना चाहिए जिसमें किसी की हानि न हो सब की भलाई हो । यही सब की भलाई के साथ अपनी भलाई की दृष्टि आचार का बीज है । ग्रीन के अनुगामी वेलेस एडम्सन ब्रैड्ले सेथ आदि है । इसके परीक्षक और विरोधी सिज्विक आदि हैं ।

नवम अध्याय।

जर्मनी में हेगेल और हर्बार्ट के बाद स्वतन्त्र विचार के दो दार्शनिक हुए फेक्नर और लोज़। गुस्टोव थियोडोर फेक्नर लीप्सिग में अध्यापक था। धार्मिकों ने और प्रकृतिवादियों ने ईश्वर और संसार को पृथक् परस्पर अत्यन्त भिन्न मान कर अपना अपना शास्त्र चलाया है। फेक्नर के मत से यह अत्यन्त अनुचित है। जैसे आत्मा और शरीर परस्पर संबद्ध हैं वैसे ही ईश्वर और संसार भी। द्रव्य के अवयवों का परस्पर संबन्ध आत्मशक्ति का कार्य है। जैसे जीवात्मा शरीर के व्यापारों को और अवस्थाओं को संवित् की एकता में इकट्ठा कर रहा है वैसे ही परमात्मा समस्त सत्ता और भावों का ऐक्य है। समस्त प्रकृति ईश्वर का शरीर है। नक्षत्र वृक्ष आदि सब सात्मक और सजीव हैं। मृत और निर्जीव से जीव नहीं पैदा हो सकता, तो यदि पृथ्वी निर्जीव होती तो इससे जीव कैसे हो सकते। जिस रूप गन्ध से जन्तुओं को इतना आनन्द होता है उस अपने ही रूप और गन्ध से फूल को क्या आनन्द नहीं होता होगा। अवश्य ही होता होगा। मनुष्य की आत्मा केवल मध्य में है। उसके नीचे की श्रेणियों मे वृक्ष आदि की आत्मा है और उसके ऊपर की श्रेणियो में नक्षत्र ग्रह आदि की आत्मा हैं। इन सब आत्माओं का ऐक्य चित्स्वरूप परमात्मा में होता है। परमात्मा की सर्व व्यापिता के बोध से उजाड़ विज्ञानवाद की रात्रि से मनुष्य

बचता है। वैज्ञानिकों के अनुसार चित्त के अतिरिक्त सब कुछ अन्धकारमय है पर यह बात सर्वथा असगत है क्योंकि रूप रस शब्द आदि जीवगत चितिशक्तिनिष्ठ भासमात्र नहीं है। ये पारमार्थिक ईश्वरीय ज्ञान के अवयव हैं। जैसे पृथ्वी पर जीवन है वैसे ही ऊपर के लोकों में जीवन है, केवल एक से एक उत्तम लोक है, दुःख या तम केवल सुख का मूल है। बिना तम के रज और सत्व की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योकि बिना दुःख के उद्योग और ज्ञान की ओर कोई जाता ही नहीं।

इस प्रकार दार्शनिक विषयों को दिखला कर वेबर आदि मनोविज्ञानवेत्ताओं के निकाले हुए नए 'मनःशरीर सम्बन्ध शास्त्र' (Psycho physics) मे फेक्नर ने ध्यान दिया। फेक्नर के वैज्ञानिक 'रात्रिमत' के विरुद्ध दार्शनिक 'दिनमत' जैसा ऊपर दिखला आए हैं शुद्ध विश्वास पर निर्भर है जिस का मूल इतिहास, धर्म और आचार तीनो ही है। पर मन और शरीर अर्थात् अन्त.करण और बाह्यकरण के सम्बन्ध के अन्वेषण मे फेक्नर ने विश्वास पर निर्भर न रह कर शुद्ध वैज्ञानिक रीति से तत्त्वनिश्चय का यत्न किया। हर्बार्ट ने मन के व्यापारों को साक्षात् नापना चाहा था पर उसका प्रयत्न सुफल नही हुआ। अब फेक्नर इन्द्रियो के व्यापार के द्वारा मन के व्यापारो को नापने मे सफल हुआ। वेबर ने दिखलाया था कि सवेदन के बल मे घटती बढती बाह्ये-न्द्रियोत्तेजना के सबन्ध की घटती बढ़ती के परिमाण के तुल्य होती है। अर्थात् यदि आंख पर एक सख्या के प्रकाश पडने के बाद उससे शतगुण प्रकाश शीघ्र पड़े तो

देखने वाले को प्रकाश के एक और सौ में उतनाही अन्तर जान पडेगा जैसा कि २ और २०० या ३ और ३०० इत्यादि में। इसी सम्बन्ध का, और पहिले पहल किस इन्द्रिय के संवेदन में किस परिमाण का भेद पड़ने से अन्तर स्पष्ट विदित होता है इस विषय के अन्वेषण में फेक्नर ने परिश्रम किया।

फेक्नर के अन्वेषण से यह विदित हुआ है कि जैसे वेबर ने आंख पर उदाहरण दिखाया है वैसे ही त्वगिन्द्रिय आदि के विषय में दिखाया जा सकता है। देखा गया है कि पन्द्रह रत्ती का बोझ यदि हाथ पर (हाथ स्थिर और किसी चीज के अवलम्ब पर रहे) दिया जाय तो फिर एक रत्ती और देने से कुछ भेद नहीं मालूम होता। जब पांच रत्ती और दिया जाय तब भेद मालूम होता है तो यदि ३० रत्ती पहिले देकर फिर कितनी रत्तियों के अधिक होने से बोझ में भेद मालूम पड़ेगा यह यदि प्रश्न किया जाय तो उत्तर पांच नहीं होता, दस होता है। अर्थात् जितना गुना अधिक सवेदन कारण होगा उतनी ही गुनी अधिक वृद्धि होने से अन्तर जान पड़ता है। गुरुत्व और शब्द संवेदन में ३ : ४ का अन्तर पड़ने से भेद मालूम होता है। पेशी के तनाव में (Muscle sense) १५ : १६ का अन्तर पड़ने से संवेदनभेद होता है। दृष्टि में १०० : १०१ भेद पड़ने से अन्तर मालूम होता है।

इन अन्वेषणों से फिर भी फेक्नर ने यह सिद्ध किया है कि आत्मा और शरीर अयुतसिद्ध अर्थात् नित्ययुक्त है, न निरात्मक शरीर हो सकता है न निःशरीर आत्मा। परमार्थ एक है। वही अपने लिये आत्मरूप और दूसरों

के लिये शरीररूप देख पड़ता है। यह बाह्य संसार केवल ईश्वरीय महा विज्ञान स्वरूप है जो सब व्यक्ति निष्ठ विज्ञानों को घेर कर वर्तमान है।

हाल में जर्मनी का दूसरा स्वतन्त्र विचारक रुडोल्फ हर्मान लोज हुआ है जो गोटिंगेन में अध्यापक था। लोज कहता है कि सब दर्शन का विषय परमार्थ या सत् है। यह सत् क्या है? देखने से विदित है कि जो वस्तु वर्तमान है, जो वृत्तान्त होते हैं, जो सम्बन्ध उपस्थित हैं, जो नियम अबाधित है-ये सब पारमार्थिक हैं। जिसे मनुष्य सत कहता है कि अमुक वस्तु है वह न तो स्वयं स्वतन्त्र स्थिति है न शुद्ध संबन्ध है

सम्बन्धनिरपेक्ष स्थिति या स्थितिनिरपेक्ष सम्बन्ध सत् नहीं है। अस्तित्व स्थिति और सम्बन्ध उभयात्मक है। पारमार्थिक वस्तुस्वभाव कोई स्थिर गुण नहीं है। ये अनेक गुण संतान की नियामका शक्ति रूप हैं। लोग कहते हैं जल वस्तु एक ही है पर वाष्प, जल, बर्फ आदि अनेक अवस्था मे रहता है। अर्थात् जलवाष्प, जलद्रव और जलघन आदि सभी अवस्था मे जल अनुगत है। जल छोड़ कर मिट्टी या सोना वह कभी नहीं है। अब यह देखना चाहिए कि यह अवस्था भेद क्या है। यह केवल कार्य विनिमय है। यदि प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु-निरपेक्ष पृथक् होती तो भी कार्यभेद असम्भव है और यदि वस्तुओं मे परस्पर तारतम्य की संभावना नहीं होती तो भी कार्यभेद असम्भव है। यह सब दिक्कत और सत्कार्य-वाद असत्कार्यवाद की शङ्का तभी मिट सकती है जब यह

मान लिया जाय कि एक व्यापक अपरिच्छिन्न अन्य निरपेक्ष वस्तु अपने ही परिमाणों को अवस्थान्तरों में दिखाता है। अब परीक्षा से यह मालूम होता है कि चितिशक्ति ही ऐसी चीज है जो अनेक अवस्थाओं मे अपने को एक समझती है अर्थात् एक हो कर भी अनेक अवस्थाओं में प्राप्त होती है। इसलिये यदि वाह्य वस्तु पारमार्थिक है तो वह भी सात्मक है। इसकी आत्मा अनेक अवस्थाओ में भी एक रहती है। स्वतन्त्र अनन्यशेप अनन्यार्थ सत्ता को परमार्थ कहते हैं। सब वस्तु चिन्मय है और केवल चितिशक्ति ही वास्तव है वस्तुतः बुद्धि ही में एक वस्तु से दूसरी वस्तु का सम्बन्ध है वाह्य दिक् कालादि सम्बन्ध केवल कल्पित है। रूप रस आदि वस्तु के प्रतिविम्ब नहीं हैं। वस्तुव्यापार के ये फल हैं। ज्ञान समस्त जगद्व्यापार का उद्देश्य है। और उद्देश्य ही परमार्थ है।

चिति शक्ति का जो अनेक वस्तुओं को एक करने का व्यापार है सो हज़ार जड़ शक्तियों से कभी साधित नहीं हो सकता। इसलिये आत्मशक्ति मानना अत्यन्त आवश्यक है। दिक् काल द्रव्य आदि चितिशक्ति ही की कल्पना हैं। स्वयं इनकी कल्पना कर इनके परस्पर संबन्ध का ग्रहण चितिशक्ति करती है। इसी आदि शक्ति या प्रथम द्रव्य के क्षणस्वरूप या अंशस्वरूप सांसारिक पदार्थ है। यह शक्ति स्वभावतः अनश्वर अमर है। संसार में सभी वस्तु क्षणमात्र के लिये रह कर चली जाती है। एक आत्मशक्ति चित्स्वरूप अविनश्वर है।

लोज की भाषा सर्वदा रूपक से भरी है। अलङ्कार-

मय होने के कारण बहुत स्थलों में संदेह रह जाता है। परस्पर विरोध भी इसके मत में जहां तहां पाया जाता है। कभी जान पड़ता है कि अनेक चिति शक्तियां इसके मत से हैं। कभी मालूम होता है कि चितिशक्ति को यह एक ही समझता था। इन विरोधों को इस संक्षिप्त वृत्तान्त में जहां तक हुआ है बचाया गया है।

एडुअर्ड वन हार्टमान जर्मनी का वर्तमान दार्शनिक है इसकी अवस्था पैंसठ के समीप है। बाइस तेइस वर्ष की अवस्था मे यह युद्ध विभाग में था अब विद्वानों में इसकी प्रतिष्ठा है। सत्ताइस बरस की अवस्था में इसने अपना मुख्य ग्रन्थ 'अचेतन का दर्शन' लिखा। इस ग्रन्थ का शीघ्र ही इतना प्रचार हुआ जैसा कि प्रायः कम बड़े दार्शनिक ग्रन्थों का हो सकता है।

वैज्ञानिक रीति से दार्शनिक कल्पनाओं का उपपादन हार्टमान का मुख्य उद्देश्य है। संसार को दुःखमय समझना और सुख की आशा नहीं रखना अर्थात् निर्वेद (Pessimism) हार्टमान के दर्शन मे भरा है। इस विषय में यह सोपेन्हावर का अनुगामी है। दार्शनिक रीति में यह फेक्नर और लोज का अनुगामी है।

हार्टमान के मत से मूर्त द्रव्य अणुशक्तियों का परंपरा रूप है। इन परमाणुशक्तियों मे कृतिशक्ति उद्देश्य के स्पष्ट ज्ञान से रहित वर्तमान है। इसलिये द्रव्य मात्र ही प्रत्यय और कृति स्वरूप है और चित्त और चेतनीय का भेद पारमार्थिक नहीं है। इसी प्रकार शरीर की स्थिति स्वाभाविक और अचेतन है। सभी अवयवो के कुछ उद्देश्य हैं जिनका

स्पष्ट ज्ञान अङ्गों को नहीं है । मनुष्य को जो प्रत्यक्ष होता है सो प्रथम स्पष्ट ज्ञान से रहित ही होता है । सुख दुःख आदि का भी मूल ज्ञान नहीं है, अज्ञानपूर्वक ही इनका भी उद्भव है, यहां तक कि किस नाड़ी से और मस्तिष्क के किस अंश के उत्तेजन से क्या व्यापार और कैसी चित्तवृत्ति होती है यह मनुष्य स्वयं नहीं जानता। स्वभावतः ये व्यापार होते हैं पर स्वभाव तो अचेतन है । चेतना शक्ति का कार्य केवल निषेध, परीक्षा, नियमन, परिमाण, तुलन, योजन, वर्गीकरण, व्याप्तिग्रह, अनुमान आदि है । चेतना शक्ति से नई सृष्टि कभी नहीं हो सकती । सृष्टि अचेतन के अधीन है । चेतना अचेतनव्यापार का उद्देश्य भी नहीं है । यह केवल अचेतन के उद्देश्य का उपाय रूप है ।

हार्टमान ने दिखलाया है कि दुःख का यथार्थ ज्ञान होने से मनुष्य उसका उदासीन परीक्षक हो कर शान्ति पाता है जैसा कि उसने स्वयं किया है । संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है इसलिये चेतन का कार्य संसार नहीं हो सकता । मूल तत्त्व की क्रियाशक्ति (रज) ज्ञान शक्ति (सत्त्व) से पृथक् हो कर कार्य करती है । तथापि ज्ञानशक्ति सदा क्रिया शक्ति का नियमन करती रहती है । इसलिये विकासवाद और दुःखवाद (Evolution and Pessimism) दोनों ही ठीक है । ईश्वर में फिर संसार मिल जायगा और मुक्ति पायगा जब रज या कृतिशक्ति नष्ट हो जायगी ।

पहिले पहल मनुष्य इस रजोमय संसार में सुख की आशा करता है फिर यहां के दुःखों से भीत होकर परलोक में सुख की आशा होती है । फिर स्वर्ग और परलोक असं-

भव सा देख पड़ता है और आज नहीं तो किसी सकय पृथ्वी ही पर सुख की और उन्नति की आशा होती है। पहिली अवस्था नास्तिकों की, दूसरी आस्तिकों की तथा तीसरी विश्वासवादियों की है। इन तीनों सुख-मृगा-तृष्णा के भ्रमों को मिटाने वाला वैराग्य है जिसके अनुसार न यहां, न स्वर्ग में, न आज, न कल्ह किसी सुख की आशा है। केवल कामरूप* दुःख को (जो रजोमय है) नष्ट कर मनुष्य की शान्ति हो सकती है।

जितनी ही श्रद्धा अधिक बढ़ती है उतना ही दुःख और अशक्ति बढ़ती है। इच्छा अधिक बढ़ती जाती है उसके परितोष के उपाय कम होते जाते हैं। बद्ध और दुःखी ससारी जीव को ईश्वर के अभिमुख कर मुक्ति का यत्न करने ही मे वास्तव शान्ति और सुख है, न कि संमार का बखेड़ा बढाने से। तथापि जब तक ऐसी अवस्था नहीं आती तब तक केवल दुःख के भय से कर्म नहीं छोड़ना चाहिए।

*काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्धेनमिह वैरिणम् ॥
एवं बुद्धे. परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
भगवद्गीता ॥

दशम अध्याय ।

यूरोप में दर्शन की सांप्रतिक दशा अच्छी है । उपयोग की ओर अधिक दृष्टि है इसलिये कल्पनाप्रधान दर्शन की अब प्रायः समाप्ति है । विशेषशास्त्र (मनोविज्ञान, उन्मत्ता-परीक्षा, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, भक्तिशास्त्र) आदि को पृथक् लेकर व्याख्यान करने वाले दार्शनिक इधर बहुत हुए हैं और अब भी वर्तमान हैं । सामान्य दर्शन के इतिहास अनेक लिखे गए हैं । विशेष दार्शनिक शाखाओं के भी इतिहास लिखे जा रहे हैं । संप्रतिमनोविज्ञानवेत्ताओ मे केम्ब्रिज के अध्यापक वार्ड अंगलभूमि मे अपने शास्त्र के नेता हैं । अमेरिका में जेम्स और डेन्मार्क मे हाफ्डिङ्ग इसी शास्त्र के विख्यात लेखक हैं । सिज्विक आचार शास्त्र के अच्छे लेखक हुए हैं । जर्मनी में विकासवाद के पक्षपाती हेकेल अभी मरे हैं । हार्टमान वैराग्य-प्रधान दार्शनिक अभी इस प्रदेश में वर्तमान है । यहा पाल डोसेन ने भारतीय दर्शन का अच्छा अभ्यास किया । उनके औपनिषद् दर्शन और वेदान्त दर्शन पर ग्रन्थ स्पृहणीय हुए है । कोशकर्ता और मनोविज्ञानवेत्ता वल्डविन अमेरिका मे है। अमेरिका के लैड और जर्मनी के वुंड्ट शरीर-मनःसम्बन्ध के तत्त्वान्वेषक हैं । जर्मनी के उबर्वेग और अर्डमान दर्शन के बड़े इतिहास लेखक हुए है । फ्रांसवासी पाल जेनेट दर्शन का इतिहास लेखक अभी वर्तमान है ।

इधर अधिक प्रवृत्ति बाह्यकरण और अन्तःकरण के सम्बन्ध के अन्वेषण मे है जिसके नेता वुंड्ट हैं। इन दार्शनिकों ने अनुभवमूलक मनोविज्ञान या मनःशरीरसम्बन्ध शास्त्र (Experimental Psychology or Paycho-physics) नामक एक नई शाखा दर्शन की निकाली है । चित्त और ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी जितने कुछ नियम हैं इनका वैज्ञानिक रीति से अन्वेषण इस दर्शन का विषय है। अनुभव और परीक्षा के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की, नाड़ियों की, मस्तिष्को की रचना और इन के ज्ञान इच्छा क्रिया आदि के साथ सम्बन्ध को इन लोगों ने किस प्रकार अन्वेषण किया है सो यहां पूरी रीति से दिखलाया नहीं जा सकता क्योकि इस दर्शन के एक एक विषय पर बडे बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। आँखकी रचना मे कैसी विलक्षण एक बात इन दार्शनिकों ने निकाली है सो यहा उदाहरणार्थ दिखाई जाती है। इन मनोविज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि आंख मे एक स्थान ऐसा है कि जिसके सामने चाहे कोई वस्तु पड़े वह देख नहीं पड़ती। इस स्थान को आंख का अन्धविन्दु कहते हैं। अब इस स्थान के दोनो आखो मे होने का प्रत्यक्ष प्रमाण देखिए। नीचे के चित्र मे यदि ताराकार चिन्ह पर दृष्टि रक्खी जाय और नाक पर आँखो के बीच मे एक सादी छोटी कागज की तख्ती रक्खी जाय तो दोनों पार्श्वों के वृत्त अदृश्य हो जाते हैं॥

o * o

ग्रन्थ समाप्त हुआ।

शुद्धिपत्र।

— o —

प्रेस की मुख्य मुख्य भूलें नीचे दी जाती हैं।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२	२	ब्राह्मसूत्रकार	ब्रह्मसूत्रकार
,,	,,	'रचनानुपतेकवमानुमातम्	'रचनानुपत्ते श्चवमानुमानम्'
३६	३	(Nous Pothetikos)	(Nous Pathe - tikos]
४७	२२	थीधिसस	थीथियस
,,	२३	फाइलों	फाइलो
५८	१४	सेक्सस, एम्पिरिकस	सेक्सस एम्पि-रिकस
,,	१३	आयोर्डेमा	आयोर्डेनो
,,	१९	आदि का	आदि की
,,	,,	[Thesophy]	[Theosophy]
,,	२०	ऐसा आवश्यक	ऐसी आवश्यक
८४	२४	केन्द्रापिगामिनी	केन्द्रापगामिनी
,,	,,	[Eccentric,	[Eccentric,
८६	९	लीभ्नीज	लीब्नीज
८७	६	रिङ्कट	रिङ्कटन
१०८	४	Intellectual	Intellectual
११६	१८	Phenomenon	Phenomenon
१३१	५	[Phaenomenology]	[Phenomenology
१५७	३	[Romantic	[Romantic

१५८	१	Pnilosophie	Philo:ophie
१६०	७	Dynanics	D) namics
१६४	१०	Phemonenalfsm	Phenomenalism
१८९	१६	काम एव क्रोध एव	काम एप क्रोध एप
,,	१७	विघ्नेनमिह	विद्ध्येनमिह
,,	१९	मह्वायाहो	महावाहो